योग विज्ञान विशेषांक : अगस्त 2015 वार्षिक मूल्य ₹ 150

साधन

संस्थापक : समर्थ गुरु परम संत डा. चतुर्भुज सहाय जी

रामाश्रम सत्संग, मथुरा

ॐ

साधन

अगस्त-2015

अनुक्रमणिका

ॐ

साधन

वेद-मंत्र

प्र पदोऽव नेनिग्धि दुश्चरितं यच्चचार शुद्धैः शफैरा क्रमतां प्रजानन्।
तीर्त्वा तमांसि बहुधा विपश्यन्नजो नाकमा क्रमतां तृतीयम॥

—(अथर्व० 9/5/3)

हे मनुष्य! तूने जो दुष्ट आचरण किये हैं उन दुष्ट आचरणों को अच्छी तरह धो डाल। फिर शुद्ध निर्मल आचरण से ज्ञानवान हो कर आगे बढ़! पुनः अनेक प्रकार के पापों और अन्धकारों को पार करके ध्यान एवं योग विज्ञान की समाधियों के द्वारा शोक और मोह आदि से पार होकर अजन्मा ब्रह्म के दर्शन करता हुआ आनन्दमय मोक्ष पद पर आरूढ़ हो। ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

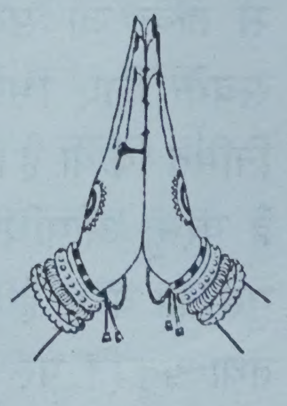
-:: योग-विज्ञान विशेषांक ::-

वर्ष : 83	अगस्त-2015	वार्षिक मूल्य : ₹ 150.00
अंक : 01		इस अंक का : ₹ 20.00

-: योग विज्ञान-एक सीख :-



मन तू राम सों लौ लाव।
त्यागि के परिपंच माया, सकल जग को चाव॥
साँच की तू चाल गहिले, झूठ कपट बहाव।
रहनि सों लवलीन ह्वै, गुरुज्ञान ध्यान जगाव॥
योग की यह सहज युक्ति, विचारि कै ठहराव।
प्रेम प्रीति सों लागि कै, घट सहज ही सुख पाव॥
दृष्टि तें अदृष्टि देखो, सुरति-निरति बसाव।
आत्मा निर्धार निर्भो बनि, अनुभव गाव॥
अचल अस्थिर ब्रह्म सेवो, भाव चित्त अरुझाव।
'भीखा' फेरि न कबहूँ पैहौ, बहुरि ऐसो दाव॥



— सन्त श्री भीखा साहब

अमृत बिन्दु

योग विज्ञान का सार

—परमपूज्य गुरुदेव

योग और योग साधन दो शब्द हैं। योग के अर्थ हैं भक्त का भगवान से मिल जाना। योग साधन के अर्थ हैं जिन साधनों के द्वारा हम उससे मिल सकें अथवा उसके समीप पहुँचकर उसके से गुण धारण कर सकें और उसी जैसे बन सकें। योग की अवस्था तो सबके लिये एक जैसी ही है चाहे वह किसी धर्म का मानने वाला हो या किसी जाति का जिज्ञासु हो। परन्तु योग साधनों में अनेक भेद हैं जैसे हठ योग, राजयोग, भक्ति वा उपासना योग, ज्ञानयोग, शब्दयोग, निष्काम कर्म योग, सहज योग, प्रेम योग, लय योग, प्रणव योग, प्राण योग, ध्यान योग, जपयोग इत्यादि। इन सबके द्वारा अन्त में एक ही स्थान पर पहुँचते हैं लेकिन सबकी क्रियाओं में बहुत कुछ अन्तर है। कोई कठिन है, कोई सरल।

संसार में भिन्न-भिन्न विचारों के भिन्न-भिन्न प्रकृति के मनुष्य हैं। वह सब एक ही लाठी से हाँके जा सकते। इसीलिए आचार्यों ने इन सबके लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के साधनों को निर्मित किया है। रोग एक ही है, उद्देश्य एक ही है परन्तु औषधियाँ अनेक हैं, उपाय अनेक हैं। गुरु का काम है कि शिष्य की योग्यता, अवस्था तथा प्रकृति पर विचार करता हुआ उसको ऐसे साधन में लगाये कि जो उसके लिये उपयोगी हो।

हठ योगी अपना साधन नीचे 'मूलाधार चक्र' (जो गुदा और अण्डकोशों के बीच में है) से आरम्भ करते हैं और क्रमशः चढ़ाई करते हुए और स्थूल के पाँच चक्रों को बेधते हुए जन्मान्तर में छटे स्थान 'आज्ञाचक्र' पर आते हैं। राजयोगियों का साधन 'आज्ञाचक्र' से चलता है वह स्थूल के चक्रों से कोई सम्बन्ध नहीं रखते और सूक्ष्म-चक्रों को शब्द योग द्वारा तय करते हैं। परिश्रम भी लेते हैं। हठयोग में आसन और प्राणायाम की मुख्यता है। राजयोग इसको विशेष महत्व नहीं देता, वह ध्यान व शब्द के द्वारा सूक्ष्म के पाँच चक्रों को पार करता है परन्तु यह दोनों ही बहुत समय बर्बाद करते हैं परिश्रम भी लेते हैं और अन्त तक नहीं पहुँचाते।

इन दोनों से ऊँचा एक और भी साधन है जिसको 'बुद्धि योग' कहते हैं। यह साधन मुमकिन है—उपनिषद-काल में भी रहा हो परन्तु इसको प्रकट रूप से भगवान कृष्ण ने ही गीता में वर्णन किया है और उसी समय से इसका रिवाज चला। इस योग में स्थूल और सूक्ष्म दोनों के स्थानों को छोड़ दिया जाता है और कारण के स्थान 'विज्ञानमय कोश' से आरम्भ किया जाता है। शिष्य को इतना ऊँचा कारण-जगत में गुरु की शक्ति चढ़ाती है और वही वहाँ पर साधे रहती है। इस योग साधना में न तो आसन, न प्राणायाम की आवश्यकता होती है और न शब्द के ऊपर चित्त

लगाया जाता है। इसका आरम्भ ज्ञान और प्रकाश से होता है।

चार शक्तियाँ

हमारे अन्तःकरण में चार शक्तियाँ रहती हैं—(1) मन (2) चित्त (3) बुद्धि और (4) अहंकार। हमारे सारे ही काम, चाहे वह व्यावहारिक हों अथवा पारमार्थिक इन्हीं चारों के सहारे हैं। जब तक यह शुद्ध और निर्मल रहते हैं हमको किसी साधन (योग विज्ञान) की आवश्यकता नहीं होती। परन्तु इसमें विकार आने पर जरूरत पड़ ज़ाती है इस बात की कि किसी प्रकार इनको फिर से विकार-रहित और स्वस्थ बनावें, बिना इसके शुद्ध किये योग या मिलाप के अधिकारी नहीं हो सकते।

इन चारों के लिए चार प्रकार के अलग-अलग साधन हैं। यह गुरु (योग वैज्ञानिक) का काम है कि ठीक-ठीक निदान करके शिष्य के लिए जैसी जरूरत देखे उसी में उसको लगावे। चूँकि "अनेक जन्म संसिद्धि" अर्थात् जिज्ञासु अनेक जन्मों में इस अपने मार्ग को तय कर पाता है, इसलिए गुरु का यह भी महत्व है कि दीक्षा देते समय अपनी आत्म दृष्टि से शिष्य के संस्कारों को देख ले। जिस स्थान पर वह पूर्व जन्म में पहुँच चुका हो उस स्थान से आगे बढ़ाने का उद्योग करे। उन्हीं साधनों में उसको न अटकावे कि जिनको वह अपने पिछले जन्मों में कर चुका हो और जिनको करने की उसे इस समय आवश्यकता नहीं है। पिछले क्लासों की पुस्तकों को पढ़ाते रहना कि जिनको वह समाप्त कर चुका हो, उसका समय नष्ट करना है।

मन—इन चारों में मन पहला है और सबसे निचला है, इसलिए यह सबसे बलवान है क्योंकि चारों का फोर्स इस पर पड़ता रहता है और इसीलिए यह चंचल रहता है। इसके रजोगुणी और तमोगुणी स्वभाव को छुड़ाकर यदि इसको किसी प्रकार भी सतोगुणी बना सकें तो आगे के लिए हमारा रास्ता साफ हो जाता है और शेष तीन आन्तरिक इन्द्रियों को हम बड़ी जल्दी से ठीक कर सकते हैं।

चित्त—मन के पश्चात चित्त का नम्बर आता है, यह द्वितीय कड़ी है। मन और चित्त का इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि मन रुकते ही चित्त भी रुकने लगता है। अधिकतर लोग मन और चित्त का भेद नहीं समझते। मन संकल्प-विकल्प करने वाली शक्ति को कहते हैं और चित्त जीवात्मा के उस मंत्री का नाम है जो विचार उठाया करता है, नये नये प्रस्ताव सामने रखता है। वृत्तियाँ इसी चित्त में निवास करती हैं। अन्तःकरण रूपी वृक्ष की चित्त जड़ है शेष मन, बुद्धि और अहंकार डालियाँ हैं। चित्त के शुद्ध होने पर यह सब शुद्ध हो जाते हैं। चित्त का स्वभाव बदलने पर इन सबका स्वभाव बदल जाता है। इसलिए योगी का काम यह होता है कि जिस तरह हो सके चित्त को एकाग्र करे। प्रथम रज और तम से हटाकर चित्त को सतोगुण में लाकर ठहरा दे। पीछे सतोगुण से भी ऊपर उठा के उसे निर्विचार बना डाले। जिस समय इस अवस्था में हमारा प्रवेश हो जायेगा चाहे वह एक सैकेण्ड ही के लिए क्यों न हो उसी समय योग का आरम्भ हो जायेगा। इसीलिए महर्षि पतञ्जलि ने

बतलाया है कि "योगश्चित्त वृत्ति निरोध:" अर्थात् चित्त की वृत्तियों का निरोध कर लेना ही 'योग' कहलाता है।

ज्ञान योगी

जिस प्रकार राजयोगी-प्राण और स्थूल के स्थानों को छोड़ देता है, उसी प्रकार ज्ञानयोगी-मन से भी कोई सरोकार नहीं रखता, सूक्ष्म के स्थानों को भी त्याग देता है। ज्ञानयोग के मत से न तो प्राणायाम की आवश्यकता है और न धारणा व ध्यान में समय नष्ट करने की जरूरत है। बुद्धि को निश्चल कर लो मन व प्राण इसके साथ ही निश्चल हो जायेंगे। इसलिए कि शक्ति की धार आत्मा के स्थान से फूट के प्रथम बुद्धि क्षेत्र में आती है फिर मन व प्राण में जाती है और उनमें टक्कर देकर उनको चालू करती है। बुद्धि स्थिर होते ही यह धार ठहर जायेगी और मन तक न पहुँचने से मन की हरकत नहीं होगी और मन स्थिर होने से प्राण में भी हरकत नहीं होगी। उसकी क्रिया ज्ञान-मार्ग के अनुसार 'विवेक योग' है। विवेक शक्ति को तीव्र बनाकर तत्व में प्रवेश करने से बुद्धि, मन व प्राण तीनों में स्थिरता आ जाती है, इसका नाम 'ज्ञान योग' है।

आत्मयोग की सिद्धि एवं मुक्ति

जिस तरह प्राणयोग से प्राण की सिद्धि और राजयोग से मन की शक्तियों की सिद्धि मिलती है, उसी तरह इस ज्ञानयोग से बुद्धि की सिद्धि प्राप्त होती है।

प्राणमय कोश तक के हमारे साधन 'हठयोग' और मनोमय कोश के साधन 'राजयोग' कहलाते हैं। बुद्धि योग से कारण शरीर का त्याग होता है। उस समय केवल एक अत्यन्त झीने अहंकार का आवरण हमारे ऊपर और शेष रह जाता है, यह हमारी महाकारण अवस्था कहलाती है। इसी निर्मल और शुद्ध अहंकार के द्वारा हम आनन्दमय कोश में ब्रह्मानन्द का मधुर पीयुष पान करते हुए सच्चिदानन्द ब्रह्म का साक्षात्कार करते हैं। यह उसी का लोक है, निर्मल, निरीह और शुद्ध चैतन्य ब्रह्म का रहने का स्थान है। उससे हमारा मिलाप होता है और इसी मिलाप को असली 'योग' कहना चाहिए।

ईश्वर वा ब्रह्म से मिलाप करते-करते उसके ईश्वरीय गुण का हमारे अन्दर समावेश होने लगता है और हम धीरे-धीरे उसके दिव्य गुणों को धारण करने पर एक दिन तद्रूपता को प्राप्त कर उसी जैसे बन जाते हैं। उस समय हमारे अन्दर समानता आ जाती है। इसलिए गीता ने उस योग को 'समयोग' करके लिखा है और महर्षि पतञ्जलि ने इसका नाम 'धर्म मेघ समाधि' रक्खा है। यहाँ का साधन केवल 'समर्पण' है। यही गीता की अठारहवीं भूमिका है। यही मनुष्य का असली जीवन है और यही मनुष्य जीवन का असली उद्देश्य है जो कि अनेक मृत्युओं के पश्चात् प्राप्त हो पाता है। आगे माया समाप्त हो जाती है। हम उसके बन्धन से छूट के मुक्त हो जाते हैं।

योग-विज्ञान के रास्ते की रुकावटें

कहावत है कि—शुभ कामों में विघ्न आते हैं। कई सन्तों ने भी ऐसा लिखा है कि जब मनुष्य

ईश्वर की ओर बढ़ने का इरादा करता है, उसके मार्ग में चल पड़ता है तब इस ब्रह्माण्ड में फैली माया की आसुरी शक्तियाँ उसे अनेक प्रकार की विपत्तियों में डालती हैं, अनेक प्रकार के कष्टों में ढकेलती हैं। कभी बीमारियाँ आके घेर लेती हैं, कभी आर्थिक संकट का सामना आ जाता है कभी कोई और झंझट लग जाते हैं और इनमें फंस के अभ्यासी विवश हो जाता है और उसका भजन और अभ्यास छूट जाता है। ऐसे समय के लिए एक्र साहस ही ऐसा हथियार है जिसके सहारे उन असुरों से मुकाबला करना होता है। जिसके हाथ में हिम्मत रूपी तलवार है, कोई ताकत उसका कुछ भी नहीं बिगाड़ सकती। संग्राम तो करना ही होगा पर समय आने पर इस साहस रूपी खड़ग से सब कट मरेंगे और उनकी माया छिन्न-भिन्न हो जायगी।

रामायण में एक प्रसंग आया है, जिसमें महात्मा काकभुशुण्ड जी शिष्य गरुड़ जी को समझा रहे हैं—हे गरुड़ यह संसार जड़ और चेतन, आत्मा और प्रकृति, ब्रह्म और माया के समागम से बना है। इन दोनों की एक गांठ बंध गई है और जीव उलझ गया है, इसीलिए दुःख उठा रहा है। यदि जीव गुरु की बताई हुई क्रिया से और अपने साहस से गांठ को खोल के उस जाल में से किसी तरह निकले तब उसका उद्धार हो सकेगा, उसके क्लेश मिट सकेंगे। परन्तु जीव जब ऐसा इरादा करता है तब ब्रह्म की पराशक्ति (माया) उसके रास्ते में अनेकों विघ्न डालती है। उस समय बुद्धि को वह माया लोभ देती है कि जो चाहे वह ले, रिद्धि-सिद्धि इत्यादि सभी कुछ तुझे देने को तैयार हूँ, यदि उस गांठ को खोलने से और आत्मा की ओर जाने से तू अपने को रोक ले, जैसा कि 'नचिकेता' को यमराज ने लोभ दिया था। जब जीव इन सिद्धियों की ओर झुक जाता है और इनके चक्कर में पड़ जाता है तो उसे वह भुलावा देके दबोच देती है, ईश्वर से विमुख कर देती है इस प्रकार वह जीव स्थूल माया से तो पीछा छुड़ा लेता है, परन्तु सूक्ष्म माया के चाल में बुरी तरह फँस जाता है। ऐसा होते ही और सिद्धियों की ओर झुकते ही उसके अन्दर का प्रकाश जो उसने साधना करके प्राप्त किया था, लोप हो जाता है और उसके स्थान पर अंधकार भर जाता है, जिसमें उसे फिर कुछ नहीं सूझता, कर्तव्य-अकर्तव्य का ज्ञान नहीं रहता, अपने लिए उचित मार्ग नहीं दिखाई पड़ता। यह सब माया की प्रेरणा से रिद्धि और सिद्धि के रूप में उस साधक को मिलता है।

यदि किसी समझदार साधक को इन विभूतियों से अवकाश मिल गया, उसकी सयानी बुद्धि इस भँवर से उसे बचा के निकाल ले गयी, तो फिर एक दूसरा संकट उसके सन्मुख आता है। माया की प्रेरणा से अनेक देवगण उससे संग्राम करने को क्षेत्र में उतर आते हैं और इन्द्रियों को विषय वासना की प्रेरणा देने लगते हैं। हिन्दू फिलासफी में प्रत्येक स्थान का चाहे वह पिण्ड में हो, चाहे ब्रह्माण्ड में हो, वहाँ का एक अधिष्ठाता देव माना जाता है। जो चैतन्य शक्ति उस स्थान को आर्डर में रखती है, उसी को उस स्थान का देवता बोला जाता है। इस नियम के अनुसार प्रत्येक ज्ञान-इन्द्रिय और कर्म-इन्द्रिय व मन,

बुद्धि, चित्त और अहंकार रूपी अन्तःकरण का इन्द्रियों का एक-एक देवता अलग-अलग माना गया है। इन देवों का निवास भी उसी स्थान में रहता है जहाँ उस इन्द्रिय की शक्ति अपने गोलक में रहती है। जब से यह जीव अपने निज स्थान को छोड़ इस संसार में आया है, तभी से इसका झुकाव संसारी विषयों की ओर हो गया है और विषयानन्द लेना उसका स्वभाव बन गया है। मन के अन्दर अच्छे और बुरे विचारों की तरंगें उठा करती हैं। कहा जाता है कि जब कभी विषय वासना की तरंग अंतर में उठती हुई यह देव देखते हैं तो जिन इन्द्रियों को साधक ने 'शम' और 'दम' के साधन द्वारा रोक रखा था, उन स्थानों के किवाड़ बन्द कर मन व इन्द्रियों को कैद कर रक्खा था, उनका फाटक वह देव शक्तियाँ खोल देती हैं और इन्द्रियों को खुली छूट विषयों की ओर जाने को दे देती हैं।

संसार में विषयों की आँधी चल रही है, इन्द्रियोंके द्वार खुलने पर इस प्रचंड वायु के झोंके अन्तर हृदय में प्रवेश कर जाते हैं और एक थपेड़े में उस ज्ञान दीप की लौ को बुझा देते हैं कि जिसको साधक ने बड़े परिश्रम से अनेक प्रयत्न कर के गुरु की सहायता से जला पाया था और उस प्रकाश में कुछ अपना व अपने से भिन्न मायावी पदार्थों का ज्ञान ले पाया था। जिस ग्रन्थि को खोलने में लगे थे, जिस उद्देश्य के लिए कमर बाँधी थी, जहाँ पहुँचने का उद्योग किया था वह तो पूरा नहीं हो सका। प्रकाश की थोड़ी बहुत झलक मिल पाई थी, अन्तर हृदय से जो एक धीमी सी किरण फूटकर बाहिर आयी थी, वह और लोप हो गई। ऐसी दशा जब साधक पर आती है तो उसका चित्त बड़ा ही खिन्न हो जाता है, उसकी आशायें मिट जाती हैं, दिल टूट जाता है और निराशाओं के बादलों में घिरके वह उस समय किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जाता है। साधकों के लिए यह समय बहुत ही बुरा होता है। बलहीन साधक यहाँ से ही नाउम्मीद हो लौट पड़ते हैं, कोई साहसी शूरवीर ही इन आसुरी शक्तियों से लड़ते झगड़ते मुकाबिला करते हुए आगे बढ़ने का इरादा करते हैं। इसीलिए साहस की भी साधना में बहुत जरूरत पड़ती है। प्रश्न आता है कि—यह इन्द्रियों के देवता ऐसा क्यों करते हैं ? उत्तर में यह आया है कि उनकी प्रीति सदैव ही विषयों में रहती है, भोगों की लालसा ही उन्हें सताती रहती है। कहते हैं कि जब विषय रूपी वायु के झोंके से जीव को सहायता देने वाली बुद्धि ही बावली बन गई, समझ-बूझ की शक्ति ही नष्ट हो गई, तब फिर उस दीपक को कौन जलावे, कौन ज्ञान का प्रकाश अन्तर में फैलावे ?

भुशुण्ड जी कह रहे हैं कि हे गरुड़! प्रकाश के मिट जाने और ज्ञान के लोप हो जाने पर जीव जन्म-मरण के चक्र में पड़कर अनेकों प्रकार की यातनायें भोगता है। इस प्रकार यह माया अति दुस्तर है। इस माया का रूप न तो कहने में आता है, न समझाया जा सकता है और न समझ में आ सकता है। साधना से भी इस पर विजय पाना महान कठिन है। यदि अकस्मात् इसका ज्ञान हो भी जाय तो फिर आगे चलके उस पर पर्दा नहीं आवेगा, इसमें भी सन्देह ही रहता है। पर साहसी वीर अपनी हिम्मत के सहारे पार जाता है और

अपना कल्याण करता है। जो जितना ऊँचा जाता है, माया के हमले भी उस पर उतने ही भयंकर और विकराल होते हैं। ऊँचे लोगों की मुसीबतें भी ऊँची ही होती हैं, उनकी परीक्षायें भी कठिन होती हैं। महात्मा बुद्ध को इन आसुरी देवों ने महाभयानक अपनी सूरतें दिखाईं, उनको डराया, धमकाया, पथ से विचलित करना चाहा, पर वह महापुरुष अपनी धुनि का पक्का था, हिम्मत का मजबूत था, इनकी परवाह न करते हुए, आगे बढ़ता गया और अपने अभीष्ट स्थान निर्वाण को प्राप्त करके ही दम लिया। ऐसा ही साहसी प्रत्येक साधक को होना चाहिए।

संकटों में वह घबड़ाता नहीं है। कष्ट पर कष्ट झेल के वह पीछे पांव नहीं हटाता, पीछे को मुड़ना वह जानता ही नहीं, अपने ध्येय को प्राप्त करने तक चैन से सोना उसे अच्छा लगता ही नहीं। वह दृढ़ता से अपना कदम आगे ही को बढ़ाता है। वह जिस वस्तु को लेना चाहता है उसे मजबूत हाथों से पकड़ता है। उसकी मुट्ठी कभी ढीली नहीं रहती। पकड़ के छोड़ देना उसके स्वभाव में नहीं रहता। यह लक्षण उत्तम व श्रेष्ठ पुरुष के हैं। जो काम हाथ में लेके अधूरा न छोड़े, उसे पूरा करके ही चैन की स्वांस ले, वही अच्छा मनुष्य बोला जाता है। मानसिक व आत्मिक साधनों में ऐसों को ही अधिकारी समझा जाता है। लगन का पक्का होना और विघ्नों से घबड़ा के बीच में ही छोड़ न देना इसका अधिकार है, ऐसे अधिकारी विरले ही मिलते हैं। वरन् अधिकतर अभ्यासी ऐसी ही कमजोर तबीयत के देखे जाते हैं जो कुछ दिनों तो बड़े शौक व उत्साह से चलते हैं पर आगे खरगोश की तरह रास्ते ही में ऐसे सोते हैं कि उनका सब कुछ छूट जाता है और किये कराये पर पानी फिर जाता है। ✦✦

गुरु-कृपा

—डॉ० माधुरी नाथ

आशा-आकांक्षाएँ मन की, राग-द्वेष से उपजीं सारी
तुम्हें समर्पित करती हूँ प्रभु! सुन लो विनती यही हमारी।
एक लक्ष्य हो, एक ध्येय हो, एक पंथ हो, एक दिशा,
तुम्हीं केन्द्र बिन्दु बन सबके, मध्य रहो हे परम पिता।
मन में, आँखों में, बसो प्रभु तुम, कानों में बनकर 'हरिनाम'।
जिह्वा मेरी जपे निरन्तर, रोम-रोम भी 'राधेश्याम'।
आसक्ति बन जाए विरक्ति, स्वार्थ बने परमार्थ।
कर्म करूँ मैं सारे जग के, फल की इच्छा त्याग
भव बन्धन से मुक्त करो प्रभु, मोह-माया के टूटें जाल।
गुरु-कृपा का ले पाथेय, प्रेम-पंथ पर चलूँ, विशाल।

सम्पादकीय

योग विज्ञान

परम पूज्य पंडित जी महाराज ने एक छोटी सी पुस्तिका 'दो तत्व दो विद्याऐं' नाम से लिखी है। यहाँ का निर्माण दो तत्वों आत्मा और प्रकृति के संयोग से हुआ है। आज के विज्ञान ने ऋणात्मक (Negative) तथा धनात्मक (Positive) शक्तियाँ कहा है। प्रश्नोपनिषद में रयि और प्राण कहा है। प्रकृति जड़ है, अज्ञान है, प्रमाद है तथा तम है। आत्मा चिन्मय है ज्ञान स्वरूप है आनन्दघन है। आत्मा में पूर्ण समाधान है तथा सन्तुष्टि है। प्रकृति में दुःख तथा समस्याऐं हैं। प्रकृति का ज्ञान स्थूल व सूक्ष्म है। यहाँ का स्थूल तथा सूक्ष्म का निर्माण प्रकृति से है। आत्मा का ज्ञान कारण व कारण से परे का है। आत्मा प्रकृति की जड़ रचना में प्रवेश कर उसमें क्रियाशीलता प्रकट करती है। जैसे एक बहुत बड़ा कारखाना है सैकड़ों मशीनें काम कर रही हैं लेकिन अचानक बिजली चली गई, सभी मशीनें खड़ी हैं। कोई काम नहीं कर रही। धातु की मशीनें तो दिखाई देती हैं लेकिन बिजली नहीं दिखलाई देती। बिजली मशीन की कार्यशीलता का कारण है। ऐसे ही यहाँ जहाँ तक हम देखते हैं सब प्रकृति की रचना है लेकिन इसमें क्रियाशीलता का कारण आत्मा है। प्रकृति जड़ है, आत्मा चेतन है। आत्मा की चेतनता के कारण प्रकृत्ति का जड़ पुतला बोलता है, चलता है, विचार करता है। प्रकृति के ज्ञान को शास्त्रों ने अपरा कहा तथा आत्मा के ज्ञान को परा कहा। अपरा ज्ञान हमारे मन और बुद्धि द्वारा जाने जाना वाला प्रकृति की स्थूल और सूक्ष्म रचना का ज्ञान है। स्थूल तत्वों के ज्ञान को हम साधारण ज्ञान कह लेते हैं लेकिन सूक्ष्म प्रकृत्ति के ज्ञान को हम विज्ञान कहते हैं। 'वि' अर्थात् विशेष ज्ञान। हम इस सूक्ष्म के विशेष ज्ञान को विज्ञान कहते हैं। विज्ञान प्रकृति के तत्वों का सूक्ष्म से सूक्ष्म अध्ययन करता है। प्रकृति के इन तत्वों का निर्माण कैसे हुआ? इनके गुण क्या हैं? इनमें छिपी शक्ति का ज्ञान प्राप्त करता है। प्रकृति इन तत्वों के गुणों तथा शक्ति का दोहन कर जन साधारण के जीवन को सरल व सहज बनाने का काम करती है। विज्ञान द्वारा प्राप्त गुण और शक्ति का प्रयोग जनचिकित्सा, परिवहन तथा अन्य कई उपयोगों में हम देखते हैं।

आत्मा का ज्ञान (पराज्ञान) मन और बुद्धि का विषय नहीं है। बुद्धि प्रकृति के सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतम जो आखों से भी दिखलाई नहीं देता उसका ज्ञान प्राप्त कर लेती है लेकिन उस सूक्ष्म तत्व में व्याप्त गुण और शक्ति का कारण क्या है, पूर्ण समाधान कभी भी सम्भव नहीं हो पाता। पराज्ञान उस असम्भव को सम्भव बनाने का ज्ञान

है। जहाँ प्रकृति का विज्ञान रुक जाता है वहाँ से पराज्ञान अपना प्रारम्भ करता है। दोनों ज्ञान अपरा और परा को प्राप्त करने का स्वरूप अलग-अलग है। गीता में भगवान कृष्ण कहते हैं–

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।

–गीता ।२।४८॥

एक ज्ञान प्राप्ति के लिये संग आवश्यक है और दूसरे के लिये योग आवश्यक है। प्रकृति का ज्ञान संग का ज्ञान है। हम प्रकृति में रहते हैं, प्रकृति में ही सारे व्यवहार करते हैं। उसके साथ रहकर उसका स्थूल व सूक्ष्म ज्ञान प्राप्त करते हैं। जैसे एक पत्थर का टुकड़ा पानी में पड़ा है, पानी में ही भीग रहा है, चारों ओर पानी है फिर भी पूरा ज्ञान नहीं ले पाता। यह जलाशय जिसमें वह पड़ा है कितना बड़ा है कितना गहरा है कितने जीव जन्तु इसमें हैं नहीं जानता। इसी प्रकार हम प्रकृति में ही रहते हैं, इसी में सारे व्यवहार करते हैं फिर भी हम पूर्ण रूप से नहीं जान सकते। अपरा ज्ञान हम समाज के साथ रहकर तथा विद्यालयों में जाकर प्राप्त करते हैं। शिशु की बुद्धि निर्मल होती है अतः प्रारम्भ में बहुत कुछ वह अपनी बुद्धि में भर लेता है। विद्यालयों में शिक्षक अपना ज्ञान बालक बुद्धि में भर देते हैं।

परा ज्ञान का माध्यम केवल योग है। योग में जुड़कर एक हो जाना है। समान गुण एवम् धर्म की वस्तुऐं आपस में मिल जाती हैं जैसे दूध और पानी दोनों मिलकर एक हो जाते हैं कोई अन्तर नहीं रह जाता। हम जीव आत्मा के अंश हैं अतः हमारे गुण, धर्म तथा आत्मा के गुण धर्म एक हैं। प्रकृति से हमारे गुण धर्म नहीं मिलते। अतः प्रकृति से तो हमारा संग होता है। लेकिन आत्मा से हम पूर्ण रूप से जुड़ जाते हैं। यह योग कहलाता है। योग की अवस्था में उसे सूक्ष्म से आगे कारण तथा कारण से परे तक का स्वतः ही ज्ञान हो जाता है। यह ज्ञान पूर्ण होता है अतः पूर्ण समाधान हो जाता है। भौतिक विज्ञान को हम पढ़कर सुनकर विचारकर अपनी बुद्धि में भरते हैं लेकिन यह आत्मज्ञान हमारी आत्म चेतना के अनुभव का ज्ञान है। अतः यह कल्याणकारी है, शाश्वत है तथा आनन्दपूर्ण है। सत्यं शिवं सुन्दरं है। यह चिन्मय है। सारी समस्याओं का समाधान है।

योग क्या है, योग की परिभाषायें एवम् व्याख्याऐं सभी शास्त्रों ने की हैं। महर्षि पतञ्जलि के अनुसार चित्त की वृत्तियों का निरोध ही योग है। '**योगश्चित्तवृत्ति निरोधः**'। इस योग से क्या प्राप्त होगा। दृष्टा की अपने स्वरूप में स्थिति हो जायेगी। अपने पूर्ण स्वरूप का दर्शन कर वह कैवल्य अवस्था को प्राप्त हो जायेगा। गीता में भगवान कृष्ण ने अर्जुन से कहा तू जीव है मैं पूर्ण ब्रह्म हूँ अतः तू मुझे अपने को सौंप दे '**मन्मना भव.......**' जहाँ सौंप देगा वहीं सारी समस्याओं का समाधान हो जायेगा। अपने कर्त्तव्य व धर्म का बोध हो जायेगा। कठोपनिषद में भगवान यम ने नचिकेता को बतलाया कि बुद्धिमान मनुष्य को उचित है वह पहले वाक् आदि इन्द्रियों को वाह्य विषयों से हटाकर मन में विलीन कर दे अर्थात्

ऐसी स्थिति हो जाये कि इन्द्रियों की कोई क्रिया न रह जाय। मन में किसी विषय की स्फुरणा न रहे। तब मन को ज्ञान स्वरूप बुद्धि में लय करदे अर्थात एक मात्र विज्ञान स्वरूप निश्चयात्मिका बुद्धि की वृत्ति के अलावा मन की भिन्न सत्ता न रहे। किसी प्रकार का कोई और चिन्तन न रहे। तब इस बुद्धि को जीवात्मा के शुद्ध स्वरूप में विलीन कर दे अर्थात् हिरण्यगर्भ की उपाधि स्वरूप महत्तत्व में लीन करे और उस महत्तत्व को शान्त आत्मा में लय करदे। प्रकृति से निरपेक्ष होकर आत्मा से सापेक्ष होना है। अपने पूर्ण से मिलकर पूर्ण हो जाना है। यहाँ अपरा और परा दोनों ही मिल जाते हैं पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो जाता है। और जहाँ पर भी अपना विचार लगाता है वहाँ का सम्पूर्ण ज्ञान स्वत: ही प्राप्त हो जाता है। हमारे ऋषियों मनीषियों ने इसी अवस्था में जाकर सारे ग्रह मण्डलों का ज्ञान प्राप्त किया, वनस्पतियों का ज्ञान प्राप्त किया कहीं भी कोई रहस्य नहीं रह गया।

जैसे हम देखते हैं समुद्र में सहस्त्रों नदियाँ मिलती हैं। सभी के पानी का स्वाद व रंग अलग-अलग है लेकिन समुद्र में सब एक हो गईं न स्वाद रहा, न रंग रहा सभी एकाकार सागर बन गईं। ऐसे ही योग भी ऐसा महासागर है जहाँ कोई भी किसी भाषा जाति धर्म का हो सभी एक हो जाते हैं परमपूज्य पंडित जी महाराज इसे आत्मा का मेला कहा करते थे। यहाँ जाकर सभी के विकार धुल गये। सभी धर्म सम्प्रदाय एक हो गये। सबके व्यवहार आचरण बदल गये। सभी इस आनन्द के सागर में निमग्न हो गये।

हमारे गुरु महाराज ने इस अवस्था में जाने की बड़ी सरल और सर्वग्राही विचार धारा दी। भाई तुम्हारा काम तो मेरे सामने बैठना है, बाकी काम मेरा है। तुम में श्रद्धा पैदा करना, विश्वास प्रकट करना तथा उस पूर्णता में पहुँचाना सारा जिम्मा मेरा है। और जो बैठ गये बड़ी सहजता से इन अवस्थाओं को प्राप्त कर गये जो अच्छे-अच्छे महात्माओं को दुर्लभ थी। ✦✦

एक प्रसंग

पूर्ण दर्शन

साधक को भगवान के दोनों रूप साकार और निराकार समझने की जरूरत है। इनमें साकार और भी कठिन है। भगवान राम जब दण्डक वन में पहुँचे तो वहाँ सुतीक्ष्ण मुनि उनके आने का समाचार पाकर पागलों की भाँति दौड़ उठे। कभी आगे जाएँ, कभी पीछे, कभी नाचने लगें-यह सब लीला भगवान देखकर प्रसन्न हो रहे थे, तुरन्त अपना रूप उनके हृदय में प्रतिष्ठित कर दिया। बस मुनि वहीं बैठ गए। पर स्थूल नेत्रों ने भगवान के साकार रूप को तो देखा ही नहीं उन्हें जीवन का लाभ क्या मिला, भगवान को तो दोनों ही भाँति तृप्त करना था, तुरन्त अपना रूप हृदय से खींच लिया। इतना होते ही वह क्षुब्ध हो उठे और नेत्र खोल दिये। सामने देखा तो भगवान साक्षात् खड़े थे, चरणों में लोट गए। यह था पूर्ण दर्शन।

—एक प्रेमी संत

प्रवचन पराग–

उपासना विज्ञान का अनुभवी ज्ञान

– परम भागवत परमसंत पं० मिहीलाल जी

(उपासना एक रहस्यमय योग है। यह द्वैत से प्रारम्भ होकर अद्वैत में पूर्ण होती है। उपासना सबके लिये आवश्यक है क्योंकि त्रयतापों का नाश इसके बिना नहीं होता। मनुष्य चाहे कितना ही ज्ञान प्राप्त करले उपासना में पहुँचे बिना शान्ति प्राप्त नहीं कर सकता।)

जब तक मनुष्य को ज्ञान नहीं, तब तक वह बिल्कुल अन्धे के समान है मनुष्य को जितना-जितना ज्ञान मिलता जाता है, उतना ही वह दुखों से बचता और सुख के निकट आता जाता है। एक दिन वह पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर जाता है। वह पूर्ण ज्ञान परमात्मा ही है।

जैसे तुम संसार में रहते हो—पृथ्वी, जल, अग्नि, और आकाश में रहते हो, हर क्षण दुनिया के विचारों में रहते हो, ऐसे ही साधक जब ईश्वर के विचार में रहने लगे तो वही उसकी उपासना है। उपासना के अर्थ ही हैं—उसके पास रहना। अभी हम सब इस जगत के पास रहते हैं, जगत की ही बात करते हैं, जगत के ही काम करते हैं और ईश्वर ध्यान में भी जगत का ही ध्यान रखते हैं, अतः यह सब जगत की उपासना ही है। इसीलिये यह जगत हमारे नेत्रों में, हमारे विचारों में तथा हमारे मन में ऐसा बस गया है कि किसी प्रकार एक क्षण को हटा ही नहीं सकते। परन्तु जब हम उस आनन्दघन परमात्मा का ध्यान करेंगे, उनकी समीपता मिलेगी तो यह ध्यान हटने लगेगा और उसके स्थान पर ईश्वर का ध्यान बैठने लगेगा—यही उपासना है।

उस समय दुनियाँ नहीं बदलेगी, मगर अपना मन बदलने लगेगा। उपासना में शिष्य और गुरु मिलते हैं। वह चाहे बाहर से न भी हों, अन्तर में अवश्य मिलते हैं। जब शिष्य अपने मन को गुरु के मन में डालता है, तो शिष्य का वह मन अथवा चित्त जो अब तक अनेक विकारों से दूषित था, गुरु के उस महान पवित्र चित्त में मिल, पवित्र और शुद्ध होने लगता है। तुम कभी गंगा के किनारे गये हो, और यह देखा हो कि शहर का गन्दा पानी एक बड़े नाले में होकर गंगा में गिर रहा है। वह बड़ा ही गन्दा, बड़ा ही दुर्गन्ध युक्त है, परन्तु गिरते ही वह उस पवित्र धार में मिला, कुछ दूर साथ-साथ चला, कि आगे उसका रूप स्वच्छ होने लगा। कुछ ही फर्लांग चलने पर पानी बिलकुल निर्मल गंगा जल हो गया। उसका रंग, दुर्गन्ध, स्वाद सब ठीक हो गया। वह नाम भी गया, गंगा हो गया। यही क्रिया उपासना की है। कुछ काल सत्पुरुषों की समीपता करो। हृदय शुद्ध हो जायेगा, अनन्त ज्ञान का स्रोत फूट निकलेगा। साधक वेद बोलेगा, अखण्ड ज्ञान का

वर्णन करेगा। यह सब आश्चर्य-सा होगा, परन्तु बात कुछ विचित्र नहीं। जहाँ अनन्त शुद्धि है वहाँ गन्दगी रहेगी कैसे ?

जब जीव अपने अहंकार को त्याग उस महान प्रभु के चरणों में पहुँचता है, तो उसी क्षण वह उस अपार शक्ति में प्रवेश कर जाता है। उसकी वह शक्ति असीम में परिणत हो जाती है। ज्ञान का भी यही होता है कि साधक गुरु से मिलकर अनायास ही उस पूर्ण ज्ञान में पहुँच जाता है, जहाँ अच्छे-अच्छे विद्वान अपनी कल्पना से भी नहीं पहुँच सकते।

आप देखते हैं—पृथ्वी में सब कुछ पैदा होता है, परन्तु बिना बीज के नहीं—ऐसे ही मनुष्य का हृदय भी एक क्षेत्र है अथवा खेत है, इसीलिये उसे हृदय-क्षेत्र कहते हैं, वहाँ भी अच्छे बीज के बिना कुछ पैदा नहीं होता। समझदार कृषक वही है, जो सुन्दर बीज लाकर अपने खेत में बोते हैं। बस इस हृदय-क्षेत्र में भी सुन्दर-विचारों की खेती करो, माला-माल हो जाओगे, जैसे बढ़िया और अधिक पैदावार होने वाले बीज, किसी वैज्ञानिक पुरुष से मिले थे , ऐसे ही सुन्दर और महान विचार किसी सन्त से मिलेंगे।

सत् पुरुषों का ध्यान आपके सुन्दर और सत् विचारों को बढ़ने का अवसर देते हैं और अशुद्ध विचार स्वयं ही सूख जाते हैं। यह सब काम सत्पुरुषों की उपासना से ही होता है जिसे 'सत्संग' कहते हैं। अत: जीवन को पवित्र बनाने और उस अनन्त के दर्शन के लिये एक सत्संग ही सार है जो ईश्वर की कृपा से ही किसी-किसी को प्राप्त होता है।

पहले कर्म

उपासना से पहले साधक कर्म में लगता है। केवल एक हल्की सी जिज्ञासा पैदा होती है, कि मैं किसी प्रकार उस परमात्मा का दर्शन करूँ। बस वही कृपा करके किसी शरीर में आकर उसे एक हल्की सी क्रिया बतला देते हैं; जैसे कह दिया कि तुम नित्य मन्दिर में जाया करो और परमात्मा का दर्शन किया करो। वह साधक नित्य-प्रति पवित्र होकर भगवान् के दर्शन के लिये मन्दिर जाने लगता है। इसका फल यह होता है कि उसकी लगन बढ़ती जाती है और अब उसे बिना दर्शन किये चैन ही नहीं मिलता। यह दशा कर्म के बाद 'कर्म-योग' की कहलाती है। कर्म-योग की इस स्थिति में यदि वह कभी मन्दिर न भी पहुँच सका तो अपने घर में ही मन्दिर का भाव आने लगता है, प्रभु का दर्शन वहीं करने लगता है।

दूसरा उपासना

उपासना योग का अर्थ यही है कि अब साधक अन्त: करण से हर क्षण अपने इष्ट के सामने रहता है—खाते-पीते, सोते-जागते, चलते- फिरते, सदैव उसी धुन में रहता है और अपने को ऐसा मिला देता है कि स्वयं वह भी नहीं जानता कि यह कैसे हो रहा है। उपासना-योग का अर्थ है कि साधक अपने इष्ट के इतने समीप पहुँच गया कि अब दूरी केवल शरीर की रह गई या यों भी कहो कि मन की दूरी रह गई।

तीसरा ज्ञान

उपासना योग हमारी उपासना का अन्तिम भाग है। इसे ऐसे समझो कि यह उस प्रभु के निकट पहुँचने या उनके साक्षात्कार के लिये एक सीढ़ी है। जब मन उपासना में तल्लीन हो जाता है, तो फिर आगे ज्ञान का आधार बुद्धि होती है। इसमें निरन्तर रहने से ही साधक ज्ञान से आगे 'ज्ञान-योग' अथवा 'बुद्धि योग' में प्रवेश करता है—अर्थात् वह ज्ञानमय हो जाता है। उसके शरीर के परमाणु ज्ञान में बदल जाते हैं। और उसका शरीर चिन्मय होने लगता है। उसके चेहरे पर एक चमक आ जाती है। उसके काम कपट रहित, छल से परे और हृदय ग्राही, अवश्य होने लगते हैं।

उपासना और मन के वेग

मनुष्य का वास्तविक स्वरूप उसका हृदय है। उपासना से हृदय परिवर्तन होता है। हृदय में ही ज्ञान का स्थान है। इसलिये मन के साथ-साथ साधक का ज्ञान भी बदलता जाता है।

उपासना इसलिये की जाती है कि यह मन अन्य किसी प्रकार भी स्थिर नहीं हो सकता। इसे किसी के प्रेम में बेच डालो, या किसी के प्रेम में निछावर कर दो अथवा किसी की महानता में अपने मन को भूल जाओ। तब यह स्थिर ही नहीं होता, उस प्रेमी के स्वरूप का ही बन जाता है। पर हाँ ! बेचो किसी भक्त के हाथ वा किसी प्रभु-प्रेमी के हाथ, जिससे तुम्हें उसका वह अनन्त आनन्द प्राप्त हो जाय।

काम, क्रोध, लोभ, मोह, प्रेम आदि भी तुम्हारे साथ रहेंगे। यह भी तुम्हारे जीवन साथी हैं, हर तरह से तुम्हारी रक्षा करेंगे। यदि काम न हो, तो फिर तुम सुख कैसे पावोगे? काम के अर्थ हैं—इच्छा। इच्छा की पूर्ति में सुख। क्रोध नहीं तो तुम्हें कोई पूछेगा भी नहीं—आदमी ही नहीं जानवर तुम्हें खा जायेंगे, अतः अपनी रक्षा के लिये क्रोध भी चाहिये। लोभ, मोह आदि भी संसार में काम देते हैं, कोई कहे कि इनको त्याग दो, तो पूर्णतः इनका त्याग असम्भव है। परन्तु हाँ यह देखते रहना कि इनका हम पर आधिपत्य न हो जाय, हमारे ही अधिकार में रहें, जब चाहें इनसे काम लें। इस बारे में गुरु एक ऐसी शक्ति, हर शिष्य के साथ लगा देते हैं जो प्रतिक्षण शिष्य के साथ रहती, और उनकी देखभाल पूरी तरह करती है। इस प्रकार यह मन के समस्त वेग गुरु-कृपा से शान्त हो जाते हैं।

साधना और दृष्टि के सात पर्दे

साधना में गुरु और शिष्य दोनों ही मिलकर काम करते हैं। साधक जैसे-जैसे गुरु के आश्रय होता जाता, उसी प्रकार गुरु भी उसे अपनी ओर खींचते जाते हैं।

भू लोक—जब जीव संसार में जन्म लेता है तो उसके नेत्र का एक ही परदा खुला होता है। जिससे वह यहाँ आकर इस भूलोक को देखता है। यही अन्नमय कोश की अवस्था है।

भुवः लोक—दूसरा परदा तब खुलता है जब मनुष्य दुःखी होता है, और दुःखों के दूर करने का पूरा प्रयत्न भी करता है, परन्तु कुछ वश नहीं चलता। कभी-कभी कहता है, प्रभो ! मेरी

रक्षा करो। तब वह परमात्मा कुछ कृपा करते हैं और गुरु रूप में आकर उसके नेत्रों का दूसरा पर्दा खोलते हैं और वह भूलोक को त्याग वह 'भुवः' लोक का प्राणी हो जाता है।

स्वः लोक—वैभव और मान प्रतिष्ठा ही को अधिक मानता है, अधिक सुख और वासनाओं की पूर्ति चाहता है, दान-पुण्य करता है। वह पूजा-पाठ भी करता है पर ईश्वर के लिये नहीं, ईश्वर ही सामने आ जायें तो भी वही संसारी कामना। इसलिये चन्द्रलोक का नाम दिया है। यही मनुष्य की 'स्वः' लोक की अवस्था है। यहाँ उसका गुरु तीसरा पर्दा खोल देते हैं। यही उसकी मनोमय कोश की अवस्था है।

महः लोक—इससे आगे अब मनुष्य को स्वर्ग भी अधूरे लगते हैं। वह मन ही मन दुःखी होता, और प्रभु से प्रार्थना करता है कि—भगवान दया करो। अब हमारा वश नहीं। जिन पर हमने विश्वास किया था, वह सब धोखा दे गये, क्या अपने क्या पराये। अन्तःकरण दुखी होता है। तब गुरु उसकी आँखों का चौथा परदा खोल देते हैं जो 'महः' लोक कहलाता है । सच्चे ज्ञान की किरण उसके नेत्रों में यहीं से प्रस्फुटित होती है। चन्द्रलोक की समाप्ति होती है, सूर्य लोक में प्रवेश करता है। अब उसे सत्य ज्ञान का दर्शन होगा।

जनः लोक—इस स्थान पर पहुँचने पर साधक को मार्ग का विश्वास होता है कि मेरा मार्ग सही है। गुरु पर पूर्ण श्रद्धा और विश्वास होता है कि यही मेरे परम हितैषी परमेश्वर के समान है। उनकी अब हृदय से पूजा करता है, हर समय स्मरण रखता है। ऐसा करने से गुरु एक चरण और आगे बढ़ाते हैं जो 'जनः' लोक कहलाता है। यहाँ नेत्र का वह पर्दा खुलता है जहाँ साधक में भक्ति का संस्कार उदय होता है। यह नेत्र का पाँचवा पर्दा है जो भक्तों के अन्तः करण को और भी निर्मल करता चला जाता है। अब हर प्राणी में ईश्वर की छटा देखकर उस पर मोहित होता है, प्रेम पैदा हो जाता है।

तप लोक—जब साधक इस स्थान पर पहुँचता है तो उसे ऐसा प्रतीत होता है कि मानो मैं अपने भगवान के मन्दिर के सामने ही खड़ा हूँ, उनका दर्शन होने ही वाला है। अतः गुरु अब उसके नेत्रों का छठवाँ पर्दा खोल देता है जहाँ उसे सब रूपों में प्रभु का निवास प्रतीत होता है, और सबके प्रति सेवा भाव जागता है। वह स्वयं दुःख उठाकर दूसरों की सेवा करता है। गुरु की समीपता इतनी बढ़ जाती है कि गुरु को अपना ही शरीर देखता है।

सत्य लोक—आज के आनन्द की दशा और है। क्या कभी अनुभव किया है ? जब गुरु तुम्हारी पीठ पर हाथ रक्खे हुए उस आनन्दघन के दर्शन को लिये जा रहे हों, उस समय हमारे शरीर, अन्तर, पैर, नेत्र, हाथों की दशा क्या होगी। क्या जिह्वा कुछ कह सकेगी। एक मन कहता है प्रथम गुरु के चरणों पर लोट पोट हो जाऊँ। मैं कहाँ था, यह कृपा कर कहाँ ले आये। फिर सामने देखता है उस अनन्त श्रेष्ठ परमेश्वर को। इस प्रकार गुरु-कृपा शिष्य के सातों पर्दों को चीरती हुई उसे अन्तिम स्थान तक पहुँचा देती है।

उपासना और ईश्वर में प्रवेश

साधक! तुम यह न समझना कि गुरु हमारे चुप चाप बैठे हैं। नहीं, नहीं वह तुम्हारी आत्मा में अपनी आत्मा का ज्ञान भर रहे हैं। वह अपना सर्वस्व तुम्हारे अन्तर में उड़ेल रहे हैं। ध्यान में आगे चले चलो तो एक दिन उसके समीप पहुँचोगे और फिर आगे एक दिन उसकी सीमा में प्रवेश कर अपने को भूलते जाओगे। आगे एक दिन ऐसा भी आयेगा कि तुम पूर्णतः अपने को भूल ईश्वर मय हो जाओगे। जब किसी का विचार ईश्वर की ओर ठीक लग जाय, और दूसरे ख्याल छूट जायँ तो उसकी प्रथम मुक्ति समझो, वही उसकी 'सालोक्य मुक्ति' है। इससे आगे जब वह और भी ध्यान की गहरी दशा में जाता है, तो अपने इष्ट (भगवान) के सामीप्य–सुख का अनुभव करता है। यहाँ इष्ट का ज्ञान उसके अन्तर में कुछ जाने लगता है। संसार की समीपता से हटकर ईश्वर की समीपता में पहुँचता है, एक अद्‌भुत आनन्द पाता है। यह उसकी 'सामीप्य मुक्ति' है। आगे इसी प्रकार गुरु की संरक्षता में यदि तुम बराबर ध्यान करते रहे, तो भगवान के उस सत्, चित्त आनन्द का भास भी तुम अपने में ही अनुभव करने लगोगे। हाँ एक द्वैत का हल्का भास तुम्हें आनन्द और ज्ञान का अनुभव कराता रहेगा। यह एक बहुत ही उत्तम स्थिति होगी, जो ईश्वरमय होगी इसी को 'सारूप्य का नाम दिया है। अतः जब साधक लगातार प्रभु का ध्यान करता है तो वह कुछ काल में सारूप्य मुक्ति का अधिकारी हो जाता है। यहाँ साधना का अन्त समझो अब साधक की साधना तो ऐसी नहीं रहती वरन् वह स्वयं हर क्षण उसी भाव में रहता है। वह कुछ काल बैठ भी लेता है और उस क्षण वह और भी गंभीर दशा में जाता है, उस 'सायुज्य मुक्ति' का भी आभास पा लेता है जहाँ उसके जीवत्व का अन्त होकर प्रभु में विलय होता है। उपासना आपको हल्का बनायेगी, और इस योग्य कर देगी, कि तुम फिर उन प्रभु में मिल सको जिनसे एक दिन अलग हुए थे। ✦✦

अमृत वाणी

- शारीरिक सेवा के लिए शरीर मजबूत होना चाहिए ताकि दूसरों का बोझ उठा सकें, मानसिक सेवा के लिए मन की शक्तियों पर अधिकार होना चाहिए और आध्यात्मिक सेवा के लिए आत्मबल होना चाहिए ताकि दूसरे जीवों को कन्धे पर चढ़ा के प्रभु के दरबार में पहुँचा सकें।
- गुरु प्राणमय कोश तय कराता है, सद्‌गुरु मनोमय व विज्ञानमय को पार कराके आनन्दमय में पहुँचाता है और परमगुरु माया से परे आत्मा व परमात्मा का मेल कराता है।

—परमपूज्य गुरुदेव

योगेश्वर का संदेश

योग विद्या के वैज्ञानिक—समर्थ गुरु

—नवनीत हृदय परम संत श्री डा० बृजेन्द्र कुमार जी

आत्म साक्षात्कार या भगवान के दर्शन के लिए एक मार्गदर्शक या गुरु की आवश्यकता पड़ती है। गुरु भगवत्कृपा से ही प्राप्त होता है लेकिन भगवत्कृपा अनायास ही नहीं मिल जाती। वह उसी को प्राप्त होती है जो रोना जानता है। जैसे शरीर में ही कहीं जोर का दर्द हो, किसी अपने प्रिय जन का विछोह या मृत्यु हो या कोई बड़ी आर्थिक हानि हो, तब तो सभी को रोना आ जाता है। लेकिन जो भगवान के दर्शन प्राप्त करने के लिए रोता है मतलब यह है कि इतनी प्रबल इच्छा भगवान को पाने की हो जाय कि चैन न पड़े, हर समय उस युक्ति को जानने की इच्छा बनी रहे जिससे भगवान के दर्शन होते हैं, तभी भगवान को दया आती है और वह उस जिज्ञासु के मार्ग दर्शन का प्रबन्ध करते हैं ताकि वह उन तक पहुँच सके।

ध्रुव जी की गाथा सबको मालूम है। जब वह भगवत् दर्शन की प्रबल दृढ़ इच्छा लेकर घर से निकले तो उनको नहीं मालूम था कि क्या करने से भगवान के दर्शन होंगे। भगवान ने ही देवर्षि नारद को भेजकर उनके मार्ग दर्शन का प्रबन्ध किया। समर्थ गुरु अमर दास जी के हृदय में जब आत्म दर्शन की इच्छा जागी तो उसी दिन गुरु अंगद देव जी की शरण में पहुँचने का इन्तजाम हो गया। महापुरुषों का कहना है कि तुम एक कदम भगवान की ओर बढ़ाओ तो वह दस कदम चलकर तुम्हारा हाथ थामते और तुम्हें सहारा देते हैं।

गुरु नर शरीर धारण करके ही हमारे कल्याण के लिए आता है, उसके सम्मुख आने पर जिज्ञासु के हृदय में स्वत: ही श्रद्धा जागृत होने लगती है फिर भी थोड़े दिन उसको परख लेने में कोई हर्ज नहीं। जब विश्वास आ जाये तो उसके बताये मार्ग पर विश्वास व श्रद्धा से चल पड़ो। उसके हो जाओ तो अवश्य भगवत् प्राप्ति किसी दिन होगी।

एक गाथा

श्रीमद्भागवत की एक गाथा है। एक बहुत ही धर्मात्मा राजा था। उसके हृदय में ईश्वर के लिए प्रेम था, उसको पाने की इच्छा थी। योगी ऋषि, महात्मा उसके यहाँ आते वह उनका यथा सम्भव सेवा-सत्कार करता और बहुत नम्रता से उनके सम्मुख अपनी इच्छा रखता। किसी ने कुछ बताया, किसी ने कुछ। उन सबके बताये अनुसार वह यज्ञ करता, दान करता, यम-नियम का पालन, जप-कीर्तन करता, कुयें व धर्मशालायें बनवाईं, गरीबों के खाने-पहनने का इन्तजाम किया लेकिन शाश्वत शान्ति नहीं पा सका।

जब जिज्ञासु के मन में उस परम शान्ति के स्रोत परमात्मा को पाने की तीव्र इच्छा हो, वह

उसको पाने के लिए अपने सामर्थ्य के अनुसार प्रयास भी करे तो भगवान को दया आ जाती है, वह स्वयं कोई इन्तजाम करते हैं। इस राजा के पास भी महर्षि नारद एक दिन आ पहुँचे। राजा ने उनका बहुत सत्कार किया, चरण धोये और उच्च आसन पर बिठाकर हाथ जोड़कर अपने योग्य कोई सेवा बताने को कहा। नारद जी बोले कि मुझे कुछ नहीं चाहिये। मैंने तुम्हारी प्रशंसा सुनी थी कि तुम एक धर्मात्मा राजा हो, सो चला आया। तुम्हें कुछ पूछना हो तो पूछो राजा ने हाथ जोड़कर अपनी इच्छा नारद जी के सामने रक्खी।

महर्षि नारद जी बोले, एक बात बताओ कि क्या तुमको इन यज्ञ, दान, जप कीर्तन, कथा श्रवण, व अन्य अच्छे कर्मों से जिस शान्ति की तलाश है वह मिली? और नहीं तो क्यों नहीं मिली? राजा बोला, वह शान्ति अब तक नहीं मिली। क्यों नहीं मिली, मैं अब तक नहीं जान सका। तब नारद जी ने प्रेम पूर्वक समझाया कि देखो राजन असली व शाश्वत शान्ति का स्रोत तो तुम्हारे अन्दर है। यह दान एवं अन्य बाहरी साधन तथा ईश्वर को पाने की इ़च्छा, इतना करते हैं कि उस परमपिता परमात्मा के हृदय में तुम्हारे लिये दया उत्पन्न करते हैं। परमपिता खुद तो नहीं आते पर एक मार्ग दर्शक (योग विद्या के अनुभवी वैज्ञानिक) को भेज देते हैं जो सही रास्ता दिखा सके। मैं भगवत् प्रेरणा से ही तुमको आन्तरिक साधना की विधि बतलाऊँगा जिससे तुम अन्तर में बसे शान्ति के स्रोत या परमात्मा को प्राप्त कर सको (उससे तुम्हारा योग हो सके।)

✦✦

आलोक-किरणें

- लोभ और असन्तोष का दिल में रहना, विश्वास और प्रेम की कमी की पहचान है। विश्वासी सदा सन्तुष्ट रहता है। दूसरों की ओर देखने और दूसरों का आसरा लेने का इरादा करते ही वह मालिक की नजरों में गिर जाता है।
- मनुष्य को चाहिए कि वह सयानी मक्खी की तरह शहद का मजा ले और उड़ जाय। लालची मक्खी न बने जो उसमें गिरकर हाथ-पाँव फँसा लेती है, और मर जाती है। धन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए है, उससे लिपट जाना अच्छा नहीं होता।
- अपनी आमदनी में से कुछ हिस्सा ज़कात (धर्मार्थ) का जरुर निकालना चाहिए। इससे बरकत होती है और खुदा राज़ी होता है। मगर बेईमानी से पैदा किया जाय और उसमें से ख़ैरात (दान) की जाय तो उसका कोई लाभ नहीं मिलता वह मक़बूल नहीं होती। लेने वाला और देने वाला दोनों दोज़ख (नर्क) की आग में डाले जाते हैं।

—परमपूज्य श्री गुरुदेव

सुधा-सार

योग विज्ञान व हमारी साधना

— युगपुरुष परमसंत श्री हेमेन्द्र कुमार जी

वृत्तियों के निरोध होने से योग हो जाता है। परमात्मा से मिलने को योग कहते हैं। योग के आठ अंग होते हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि। पहले लोग यम व नियम से साधना प्रारम्भ करते थे व इन्हीं में अटक कर रह जाते थे। आप स्वयं समझ लें। यम कहते हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह को और नियम के अन्तर्गत हैं—शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय व ईश्वर प्रणिधान।

हमारी साधना में पूज्य गुरुदेव ने धारणा, ध्यान व समाधि को प्रथम रखा। आवश्यकतानुसार प्रत्याहार भी प्रयोग में आ ही जाता है। इसका व्यावहारिक लाभ यह हुआ कि ध्यान व समाधि से शक्ति प्राप्त कर साधक के यम के पाँचों अंग व पाँचों नियम स्वयं ही पूरे होने लगते हैं। यम-नियम को अपनाना हमारा धर्म है।

पूज्य गुरुदेव ने इस साधना शैली से योग की धारणा, ध्यान, समाधि-प्रत्यक्ष में भक्ति व उपासना तथा समीपत्व से ज्ञान व प्रेम की शिक्षा दी। इस साधना के आरम्भ में 'गुरु' परमात्मा व इष्ट को प्रकाश रूप में धारण करने की प्रधानता है। इसके निरन्तर अभ्यास से जैसे-जैसे प्रकाश ग्रहण होता जाता है, अज्ञानांधकार स्वयं हटता जाता है। ज्ञान उपार्जित होता जाता है।

ज्ञान शान्ति का स्त्रोत होने के कारण आन्तरिक सुख-शान्ति प्रदान करता है। पूज्य गुरुदेव की हमारी इस साधना में प्रेम की भी प्रधानता है। प्रेम आनन्द का स्त्रोत है। इससे इस साधना का साधक एक अलौकिक आनन्द व शान्ति का अनुभव करता हुआ उस परम पिता की ओर आकर्षित होता ही चला जाता है। और अन्त में इसी जीवन में अपने ध्येय को प्राप्त कर लेता है। ✦✦

गुरुवाणी

तुम्हें अपने ख्यालात दूसरों तक पहुँचाने हैं, तुम्हें अपना भाव दूसरों में भरना है, इसके लिए उद्योग करो। कोई भला करे या बुरा, कोई प्रशंसा करे या नहीं—इसकी ओर ध्यान मत दो। यदि तुम अपने प्रयत्न से एक मनुष्य को भी सँभाल सके और उसे ईश्वर भक्ति की ओर झुका सके तो समझ लेना कि तुमने अपने शरीर से भगवान की प्रसन्नता के लिए बहुत बड़ा काम किया। भूले-भटके प्राणियों को अनन्त की राह पर लाकर खड़ा कर देना ही सच्चा परोपकार है क्योंकि इसके द्वारा ही उसको अनन्त सुख व असीम आनन्द की प्राप्ति होती है।

—परमपूज्य गुरुदेव

प्रेम मूर्ति का प्रेम प्रसाद

प्रेमयोग क्या और कैसे

—प्रेममूर्ति परम संत श्री डा० नरेन्द्र कुमार जी

प्राचीन काल की बात है। एक ऋषि अपने आश्रम में निर्गुण ब्रह्म की शिक्षा देते थे। परन्तु वे यह अनुभव करते थे कि कहीं न कहीं इसमें कोई कमी है। किन्तु वे समझ नहीं पा रहे थे कि वह कमी क्या है? एक बार वे जंगल में जा रहे थे तो उन्होंने देखा कि एक सुन्दर स्त्री एक पेड़ के नीचे ध्यान में मग्न है, प्रकाश से पूर्ण है, उसका चेहरा चमक रहा है। उनको कौतूहल हुआ कि एक अकेली स्त्री इस भयानक जंगल में क्यों तपस्या कर रही है और यह कौन है? वे वहीं रुक गये। बहुत समय तक रुके रहे।

जब वह स्त्री ध्यान से उठी तब उन्होंने उसको प्रणाम किया और अपनी शंका उसके सामने रखी। वह स्त्री बोली कि मैं ब्रह्म-विद्या हूँ और मुझमें अभी एक कमी है जिसके कारण मैं तपस्या कर रही हूँ। कालान्तर में भगवान कृष्ण के रूप में अवतार लेंगे और तब जिस प्रेम योग की वे शिक्षा देंगे उसे मैं प्राप्त करना चाहती हूँ। अभी मुझमें उस प्रेम की कमी है। ऋषि ब्रह्म-विद्या के विद्यार्थी थे। उन्होंने भी वहाँ तप करना शुरू कर दिया। कालान्तर में वे भगवान कृष्ण के काल में गोप और गोपिका बने।

सब जानते ही हैं कि भगवान कृष्ण ने गोप और गोपिकाओं से कोई साधना नहीं कराई। उन्होंने केवल अपने आकर्षण से उनको बाँधे रखा था। इससे सारे समय गोप और गोपिकाओं का मन उन्हीं में रमता रहता था। और इसी के द्वारा सभी पूर्णता को प्राप्त हुए। इसको ही प्रेमयोग कहते हैं।

भगवान् कृष्ण ही इस प्रेम योग के प्रथम आचार्य माने जाते हैं। यह नहीं है कि इससे पहले प्रेमयोग की साधना नहीं थी, परन्तु जिस ढंग से उन्होंने इसे प्रस्तुत किया उस प्रकार से इसे अन्य किसी ने उनके पहले प्रस्तुत नहीं किया था।

गुरु महाराज ने भी यही किया। एक बार वे रेल से यात्रा कर रहे थे। उनके डिब्बे में एक मुसलमान भाई भी थे, जो फकीरों की सोहबत उठाये हुए थे। वे भाई उनसे बोले कि क्या बात है कि मैं आपकी तरफ आकर्षित होता जा रहा हूँ। गुरु महाराज ने कहा कि ऐसी तो कोई बात मेरी तरफ से नहीं है। जब वे सज्जन रेल से उतरने लगे तो उन्होंने एक प्रश्न गुरु महाराज से किया कि ईश्वर का क्या स्वरूप है? गुरु महाराज बोले कि 'विशुद्ध प्रेम' ही ईश्वर का स्वरूप है। यह वही बात थी जिसका उपदेश भगवान् कृष्ण ने दिया था।

गुरु महाराज को परम पूज्य दादा गुरु महाराज ने जब सत्संग कराने की इजाज़त दी थी

तो उन्होंने उनको तीन बातें बताई थीं।

पहली बात तो यह बताई कि अपने सत्संग में न कोई गुरु है, न कोई शिष्य। क्योंकि गुरु और शिष्य में द्वैत रहता है। वे हमेशा दो ही रहेंगे।

दूसरी बात जो उन्होंने कही वह यह थी कि तुम्हारे पास जो भी इस ब्रह्म-विद्या को ग्रहण करने आये उसको बिना भेदभाव के दे देना। इसलिए गुरु महाराज कभी किसी से यह नहीं पूछते थे कि तुम किसके शिष्य हो, जो भी आता उसकी आध्यात्मिक सहायता कर देते।

तीसरी बात जो और भी महत्त्वपूर्ण थी और जो उन्होंने कही वह यह थी कि देखो तुम सब से इतना प्रेम करो कि सब तुम्हारे हो जायँ। यही विशुद्ध प्रेम है। इसीलिए गुरु महाराज ने अपने अन्दर इतना आकर्षण पैदा कर लिया था कि वे जहाँ भी जाते लोग उनकी तरफ आकर्षित हो जाते।

गुरु महाराज की शिक्षा भी यही थी कि ध्यान की साधना को तो सुबह व शाम करना और बाकी समय में जब भी समय मिले मुझे याद करना। वे यह नहीं कहते थे कि मुझे गुरु मानो। वे तो कहते थे कि मुझे चाहे पिता मान लो, चाचा मान लो, भाई मान लो, सखा मान लो, किसी भी रूप में मुझे याद करते रहो। इसी याद करने को 'चिन्तन' कहते हैं।

एक बार आदि शंकराचार्य जी से किसी ने प्रश्न किया कि भगवत् प्राप्ति की सबसे शीघ्र और सरल साधना कौन सी है। तो उन्होंने उत्तर दिया कि भृंगी साधना ही सबसे जल्दी और आसानी से परमात्मा को प्राप्त करने की साधना है।

भृंगी साधना वास्तव में और कुछ नहीं है, वह तो केवल हर समय अपने गुरु को याद करना, उनका चिन्तन करना ही है। इसी साधना के द्वारा कंस, रावण और हिरण्यकश्यपु ने भगवान् को प्राप्त किया और इसी साधना के द्वारा मीराबाई, सूरदास, कबीर साहब ने भी भगवान् को प्राप्त किया। यह दूसरी बात है कि कंस आदि ने द्वेष भाव से उनका चिन्तन किया तो मीरा आदि ने प्रेम भाव से। लेकिन दोनों ने काम एक ही किया था कि सोते जागते हर समय वे भगवान् के ख्याल में रहे। यही शिक्षा भगवान् कृष्ण ने दी थी।

परन्तु एक बात और है कि भगवान् से प्रेम निष्काम होना चाहिए।हम प्रेम करें और प्रेम के बदले में कुछ चाहें तो वह प्रेम निष्काम प्रेम नहीं होता, वह तो व्यापार होता है। निष्काम प्रेमी बदले में कुछ चाहता नहीं है। दूसरे, निष्काम प्रेमी बदले में कुछ न चाहने के साथ-साथ त्याग भी करता है।

इसके बारे में भगवान् कृष्ण के ही जीवन की एक कथा है। एक बार रुक्मिणी इत्यादि ने भगवान् से शिकायत की कि हम आपकी इतनी सेवा करती हैं किन्तु हमारी तारीफ तो आप कभी नहीं करते, आप तो हमेशा गोपियों की ही तारीफ करते रहते हैं। उस समय भगवान् श्री कृष्ण ने इसका कोई उत्तर नहीं दिया।

दो-तीन दिन बाद भगवान् कृष्ण यह बहाना

बनाकर लेट गये कि मेरे सिर में भयंकर पीड़ा हो रही है। कई वैद्य बुलाए गये, किन्तु उसका जब कोई इलाज नहीं हुआ तो किसी ने भगवान् कृष्ण से पूछा कि भगवन् इस बीमारी का इलाज क्या है। उन्होंने कहा कि अगर किसी भक्त की चरणरज मिल जाए तो मैं ठीक हो सकता हूँ। वह बोला कि यह तो बहुत सरल काम है, आपके इतने भक्त हैं, कोई भी चरण-रज दे देगा। भगवान् बोले कि तब देर क्यों करते हो, जाकर ले आओ।

वह पहले रुक्मिणी के पास पहुँचे और भगवान् की बात कही। रुक्मिणी बोली कि नहीं, मैं चरण-रज देकर अपने को पाप की भागी नहीं बनाना चाहती। तुम किसी अन्य भक्त के पास जाओ। ऐसा करते-करते जब वह थक गया तो भगवान् कृष्ण के पास आया और कहा कि भगवन् भक्त की चरण-रज तो बहुत दुर्लभ है, कहीं मिलती ही नहीं। तब भगवान् कृष्ण ने कहा कि अगर सब जगह प्रयास कर लिया है तो अब गोपियों के पास भी जाकर आओ।

वह जब गोपियों के पास गया तो गोपियों ने कहा कि तुम जितनी चाहो उतनी चरण-रज ले जाओ, हम तो कृष्ण को किसी तरह स्वस्थ देखना चाहती हैं। जब उसने रुक्मिणी की कही बात गोपियों को बताई तो गोपियाँ बोलीं कि हमें ऐसा कोई भय नहीं है कि हमारी क्या गति होगी, हम नरक क्या घोर नरक में भी जाने को तैयार हैं, हमें इसकी परवाह नहीं है। हम तो यह चाहती हैं कि भगवान् कृष्ण स्वस्थ रहें।

वास्तव में यही असली प्रेम है। यही प्रेम योग की साधना है। गुरु महाराज ने हमें यही साधना दी थी और कहा था कि सबसे इतना प्रेम करो कि पराये भी अपने हो जाएँ। इसीलिए हमारे सत्संग में गुरु और शिष्य का सम्बन्ध नहीं है बल्कि सब सत्संगी हैं और हम सब ऐसे रहते हैं जैसे एक ही परिवार हो। इसी कारण एक सत्संगी दूसरे सत्संगी को देखकर उतना ही खुश होता है जितना वह अपने परिवार वालों से मिलकर खुश होता है।

✦✦

पीयुषवाणी

- अपने लक्ष्य को निरन्तर स्मरण करते रहना "अभ्यास" है। इस स्मरण में जो भी बाधक हो उसे दिल से निकाल देना "वैराग्य" कहलाता है।
- सांसों के आने-जाने की तरह स्मरण स्वभाविक हो जाय तब समझो हम आगे बढ़े हैं।
- गुरु जिस दशा में रखे उसमें प्रसन्न रहने वाले को शिष्य कहते हैं। जो ऐसा नहीं कर सकता उनकी कृपा नहीं प्राप्त कर सकता।
- दवा भी लो और पथ्य भी करो नहीं तो लाभ नहीं होगा। समय का मोल समझो ऐसा न हो कि तुम्हारे पहुँचने के पहले गाड़ी छूट जाय। —परमपूज्य श्री बाबू मनमोहनलाल जी

समर्पण योग की वैज्ञानिक प्रयोगशाला

— समर्पित संत श्री ओमप्रकाश 'विरल

अगर जीवन का लक्ष्य प्राप्त करना है तो एक ही सरल सुगम मार्ग है कि किसी महापुरुष के चरण पकड़ लें। समय रहते उनके चरणों तले पड़े रहकर उनकी कृपा प्राप्त कर लें। सत्पुरुष का दर्शन ही दुर्लभ है और सब सुलभ है, इसके पश्चात तो काम बना बनाया है।

संसार में किसी वस्तु का अभाव नहीं होता। बस जिसे हम समाहित चित से चाहने लगते हैं वही प्रकट हो जाती है। ईश्वर को अभी हमने चाहा नहीं है, इसलिये वह प्रकट नहीं हुआ। भगवान या गुरु के आश्रित हो जाना कोई खेल नहीं है। जब तक मिट्टी बुदबुदाना बन्द नहीं कर देती, कुम्हार के काम की नहीं बनती। वह उससे अपनी इच्छा की मूर्ति नहीं बना सकता। साधक में आश्रय भाव जाग्रत करने के लिये गुरु को बड़ा परिश्रम करना पड़ता है, उसे अनेक युक्तियाँ काम में लानी पड़ती हैं, आगे फिर उस आश्रय भाव को परिपक्व बनाने के लिये गुरु को एक विचित्र रचना करनी पड़ती है। जो वहाँ आश्रय लिये रहता है, मौन होकर उसके आश्रय को समझ प्रसन्न रहता है, उसी के लिये दया का द्वार खुलता है।

साधक जब तक अपनी लगाता रहेगा, आगे बढ़ेगा नहीं, वह चाहे कितनी ही ऊँची और लाभ की बात हो। भगवान राम को वन से लौटाने और स्वयं वन जाने का हट भरत जी ने किया था देखने में विधाता यही तो रचना चाहता था माताओं के लिए, पुरवासियों के लिए, राज्य के लिए इससे अच्छी बात क्या हो सकती थी कि भगवान अयोध्या लौट जायें, परन्तु यह बात भगवान के मन की नहीं थी, इसीलिये गलत थी इस बात का बोध हो जाना कि गुरु के मन की बात क्या है, गुरु का शिष्य के ऊपर बहुत अनुग्रह है और शिष्य का उसके मन की बात को पकड़कर उस पर आरूढ़ रहना सबसे बड़ा शिष्यत्व। ''सन्त सभा अनुपम अवध...' कहकर तुलसीदास जी ने गुरु के दरबार की ओर ही संकेत किया है। इस सत्संग की अयोध्या का राज कौन करेगा, इसका जिम्मा भगवान का है गुरु का है, वह अपनी व्यवस्था समझ रहे हैं। हम अपनी माथापच्ची कर उस महान की महान ईक्षणा में कंकड़ी क्यों डालें। हम तो अन्तःकरण की शुद्धि के लिए आये थे, राग-द्वेष से हटने के लिए नाम लिखाया था, प्यार और मार में से एक चुनने नहीं आये थे, इसका फैसला और इसकी जरूरत तो वही समझेगा, हम रास्ते को खोटा क्यों करें।

समय अनमोल है, एक साँस जो गयी लौटेगी नहीं, सारी दौलत, सारा अहंकार, सारी शक्ति एक साँस के लिए मुँहताज खड़ी होगी।

हम किस गिनती में हैं, अच्छे-अच्छे विद्वान, धनवान, सन्त-महात्मा उससे नहीं बचे। फिर हम अपने लक्ष्य को क्यों भूलें? मान, बड़ाई, यश, धन आदि घोंघा बटोरने के लिए तो जन्म नहीं लिया था, न उसके लिए सत्संग में ही आये थे, फिर क्या हो गया? उसके दूसरे रूप को भी देखो। लोहा गरम करके पीटा नहीं जायेगा तो पहला रूप बदलेगा कैसे? इसलिये अपने को गुरु की इच्छा पर छोड़ दो। जो कुछ हो रहा है, उसी की इच्छा से हो रहा है, इसमें खुश रहकर भरत की भाँति कह दो-

जेहि विधि प्रभु प्रसन्न मन होई।
करुणासागर कीजिय सोई॥

बिना इस भाव के कुछ मिलेगा, सरेगा नहीं। इस भाव का बनना भी उन्हीं की कृपा पर निर्भर है, अतः उन्हीं से प्रार्थना करते रहें।

ऐसे समर्पित साधकों और भक्तों के लिए गुरु परमेश्वर होता है। जैसे चकोर को चन्द्रमा और कमल को सूर्य प्रिय होता है ऐसे ही इन भक्तों को अपने गुरु से स्नेह होता है। इनके लिए गुरु एक ज्योति है, तो वह पतंगा, वह कमल हैं तो वह भौंरा। ऐसी कुछ प्रीति होती है कि पता नहीं चलता कि क्या बात है? उनके लिए गुरु साकार भी है और निराकार भी, व्यक्त भी है, अव्यक्त भी। वह क्या है, यह नहीं जानते और उन्हें कुछ बनना ही नहीं, उन्हें कुछ लेना ही नहीं, वह तो जैसे मिलने के लिए आए हैं। वह मिलन भी कैसा? नदी जैसा कि सागर में मिल गई, तो नाम रूप ही खो बैठी, पतंगे जैसा कि ज्योति पर गिर पड़े, तो ज्योति ही रह गई, चन्दन जैसा कि पानी में मिल गया तो पानी ही रह गया और जिसे कोई नहीं पूछता-लवण अर्थात नमक जैसा कि जल में मिला तो घुल ही गया, अपना पता ही नहीं। अब यदि किसी को लवण की तलाश है तो जल का स्पर्श करे, पान करे, उसे देखे। जिसे खोज है, वह पता लगा लेगा कि इसमें लवण है।

ऐसे होते हैं ये भक्त और साधक जो अपना आपा गुरु के आपे में भेंट कर अलग हो जाते हैं। उन्हें कोई देखना चाहता है तो गुरु को देखे, उनके बोलों को सुने, उनके स्वरूप को लखे। पता नहीं चलता कि कौन किसमें है? राधा श्याम में या श्याम राधा में, राम भरत में या भरत राम में। यही एकरूपता प्रेम है, जीवन है। भक्त और भगवन्त का एक हो जाना, अथवा शिष्य का गुरु में समाहित हो जाना एक ही बात है, यही सर्वोच्च अवस्था है।

आत्मा और बुद्धि के बीच में अनेक विचार हैं। विचार ही बुद्धि की अन्तिम सीमा है। जब वह सूक्ष्म होता जाता है तो वृति के रूप में समझ में आता है। जब साधक की प्रवृत्ति संसार से हट जाती है और वह एक ईश्वरीय वृत्ति में आ जाता है और इस वृत्ति से भी निवृत्ति पा लेता है तो उस अवस्था में पहुँचता है जिसे शास्त्रकारों ने योग की अवस्था कहा है। परन्तु योग यहाँ भी नहीं है। यहाँ आत्मा के अद्भुत गुणों का पता चलने लगता है, वह ज्ञान कुछ-कुछ समझ में आने लगता है जिसे विचित्र कहा गया है। ऋतम्भरा कहा गया है। वहाँ एक विलक्षण शक्ति है, परम आनन्द की स्थिति

है। वह कुछ और ही है जिसे समझाना शब्दों में बांधना सम्भव नहीं दिखता। कैसे कहें कि वह क्या है बस वह तभी समझ में आता है जब वहाँ पहुँचा जाय।

जब हम एक विचार पर आ जायें और उस एक में इतना डूब जायें कि हमें अपना कुछ होश न रहे तो वह ध्यान कहलाता है। परन्तु अभी साधना में आगे बढ़ने के लिए इस एक विचार को भी छोड़ना पड़ता है। यहाँ आकर मुश्किल पड़ती है। मनुष्य अनेक से हटकर एक पर तो आ सकता है उसकी सामर्थ्य इसके आगे की नहीं। पर इस एक को छोड़े बिना परमात्मा से योग नहीं होगा, बुद्धि निर्मल नहीं होगी, आत्मा का ज्ञान नहीं होगा। यहाँ दूसरे का सहारा लेना पड़ेगा। इस सहारे के लिए ही सारी गीता की रचना हुयी है। भगवान को सौंपकर ही अर्जुन शोक रहित हो पाया। यह स्थिति केवल आत्मा की है।

जिस महापुरुष से संपर्क जोड़कर सहारा प्राप्त किया जाता है वे ही सद्गुरु हैं, साधना के हर मोड़ पर, हर पड़ाव पर जाग्रत से आपके संग हैं। वे तो साधक को और ऊपर ले जाना चाहते हैं। जब साधक अ आपको असहाय, असमर्थ अनुभव करने लग है और लगातार प्रार्थना करता है तो गुरु अ विचार उसके हृदय में उतार देते हैं। गुरु विचारों में आ जाना ही समर्पण है। यही सना सत्य है। इस अवस्था विशेष में पहुँचने के लि ही सच्चे सत्संग की तलाश करनी होगी। बि इसके काम नहीं बनेगा। कहना न होगा रामाश्र सत्संग (मथुरा) द्वारा प्रणीत ध्यान की सर सुगम शैली से आपका यह मनोरथ सिद्ध सकता है। गुरुदेव दया करें। ✦

विनय

— श्री कृष्णपाल

गहि लेहु बाँह हमारी,
युगों-युगों के जनम-मरण से, मुक्ति न भई हमारी॥
पाप की गाँठि बढ़े निश-वासरि, जनम-जनम होइ भारी।
विषय विकार सर्प सम पल-पल, रोकें राह हमारी॥
कोई नहीं है तुम सम गुरुवर, दीन विरद हितकारी।
दया सिंधु दुःख हर्ता तुम ही, जाउँ कौन के द्वारी॥
भवसागर में बहे जा रहे, अब प्रभु लेहु उवारी।
सर्वशक्ति सम्पन्न आप प्रभु, हम निरीह अतिभारी॥
पूजा-ध्यान कछु नहिं जानें, हम हैं बड़े अनारी।
दे देहु दर्शन हम सब को प्रभु, देखें राह तिहारी॥

विज्ञान रूपं श्री सद्गुरु

— श्रीयुत् प्रभुदयाल शर्मा

इस मृण्मय-सृष्टि के समस्त जड़-चेतन में उस चैतन्य रूपी चिन्मय का ही वास है। जिस प्रकार नर्तक में नृत्य समाया हुआ है, वैसे ही समस्त जड़-चेतन में वही समाया हुआ है। जिस प्रकार गतिमान पहिया अपरिवर्तनशील कील पर टिका हुआ है उसी प्रकार सारे परिवर्तन इस मृण्मय रूपी परिधि पर होते हैं, जब कि भीतर मौजूद चिन्मय सदा स्थिर रहता है। उस चिन्मय परमात्मा को खोजना है यह धारणा ही भ्रान्त है। परमात्मा हम सबके अन्तर में व्याप्त है हमें केवल बाहर जाती चेतना की दिशा का परिवर्तन कर उसे अंतर की ओर मोड़ना भर है। खोज तो दोनों ही कर रहे हैं विज्ञान पदार्थों से सम्बन्धित खोज में संलग्न है और अध्यात्म विज्ञान मानव-चेतना के विषय में संलग्न है। वस्तुतः विज्ञान और अध्यात्म के विषय क्षेत्र अलग- अलग हैं पर दोनों ही सत्य संधान में संलग्न हैं। विज्ञान पदार्थ के बाह्य रूप रंग स्थूल को देखकर भ्रमित है उससे आगे सूक्ष्म तक ही उसकी पहुँच है परन्तु अध्यात्म उससे आगे कारण और उससे भी आगे गया है उस सत्य का अन्वेषण इस जड़-चेतन मृण्मय में ही खोज निकाला है—उस चेतना को जो उस पदार्थ में व्याप्त है, खोज निकालने में समर्थ हो पाया है।

जड़-चेतन गुन दोषमय बिस्व कीन्ह करतार।
संत हंस गुन गहहिं पय परिहरि बारि विकार॥

—रा.च.मा. १/६

विज्ञान के पास अपरिमित शक्ति का भण्डार है परन्तु दृष्टि का नितान्त अभाव है। अतः उस दृष्टि की प्राप्ति के लिये उसे अध्यात्म से जुड़ना होगा। उस दृष्टि के स्रोत सद्गुरु हैं अतः उनसे योग करना होगा, गुरु उस विशेष ज्ञान के दाता हैं, विज्ञान रूप हैं।

योग है दो पदार्थों का मिलन अथवा संयोग, वेदान्त योग को जीव और परमात्मा का मिलन कहता है। अन्यत्र इसकी व्याख्या **'युज्यते असौ योगः'** अर्थात् जो मिलावे उसे योग कहते हैं। योगवासिष्ठ में संसार सागर से पार होने की युक्ति को योग कहा गया है। **'सर्व चिन्ता परित्यागो निश्चिन्ते योग उच्यते'** अन्यत्र ऐसा कहा गया है। सबसे अधिक प्रसिद्ध महर्षि पतञ्जलि का सिद्धान्त **'योगश्चित्तवृत्ति निरोधः'** है इस प्रकार आत्मा परमात्मा को मिलाने वाला, संसार सागर से पार कराने वाला अथवा चिन्तारहित कराने वाला कोई भी उपाय अथवा मार्ग योग के नाम से अभिहित किया जाता है। इसीलिये भक्तियोग, ज्ञानयोग, कर्मयोग आदि सभी को योग कहते हैं।

वस्तुतः चित्त की वृत्तियों का रोकना ही योग है। कैसे रोक पायें? उसके लिये उपाय बतलाते हैं। वह है **'अभ्यास वैराग्याभ्यां तन्तिरोधः'**। नित्य प्रति दिन अभ्यास करना आवश्यक है।

देखे सुने विषयों की तृष्णा से चित्त को हटा लेना ही वैराग्य है यह वैराग्य की स्थिति गुरु कृपा से ही अन्तर में आ पाती है। चित्त की पाँच अवस्थायें होती हैं। १. क्षिप्त, २. मूढ़, ३. विक्षिप्त, ४, एकाग्र एवं ५. निरुद्ध। चित्त की वृत्तियाँ भी पाँच हैं—प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति। इन वृत्तियों से संस्कार की उत्पत्ति और संस्कारों से वृत्तियों का उदय—इस प्रकार यह चक्र सतत क्रियाशील रहता है, वृत्ति और संस्कार का परस्पर सम्बन्ध वृक्ष और जड़ों के समान होता है। जड़ें पृथ्वी के नीचे अदृश्य रूप से व्याप्त रहती हैं, वृक्ष के नाश होने पर भी अनुकूल परिस्थितियों में बढ़कर पेड़ को पुनः उत्पन्न कर सकने में समर्थ होती हैं ठीक इसी प्रकार से वृत्ति और संस्कार का एक चक्र होता है, वृत्ति का रूप स्थूल एवं संस्कार का रूप सूक्ष्म होता है, स्थूल वृत्तियाँ तथा सूक्ष्म संस्कार दोनों के निरोध होने पर ही योग की पूर्णता होती है, यही तो है चित्त की वृत्तियों का निरोध करने का उपाय, परन्तु इसके लिये सतत अभ्यास रत रहने की आवश्यकता है।

महर्षि पतञ्जलि ने इस योग प्रणाली को चार भागों में विभक्त किया है, वे हैं हेय, हेय हेतु, हान और अंतिम है हानोपाय। संसार में जितने भी दु:ख हैं और उन दु:खों को उत्पन्न करने वाले पदार्थ हैं वे सभी त्याज्य हैं किन्तु साधक केवल अविद्या के कारण उन दु:खों को स्वीकार कर लेता है, इस प्रकार अज्ञानवश ही जीव इस भ्रमर में फँस गया है। इस नासमझी के कारण ही जीव अपने आपको भोक्ता मान लेता है और भौतिक वस्तुओं को भोग्य मान लेता है—'**फँस्यों कीर मरकट की नाईं**' यह जो भोक्ता-भोग्य-भावरूप संयोग है वही हेय हेतु' है यह प्रथम समस्या है हेय-हेतु से छुटकारा पाना। यहाँ कोई प्रयास काम नहीं आता केवल गुरु कृपा के सिवाय, जीव को जब गुरु कृपा से आत्मा- परमात्मा का ज्ञान हो जाता है तभी वह इस अविद्या के लौहपाश से मुक्त हो पाता है, अविद्या के उच्छेद से दु:ख की आत्यान्तिक निवृत्ति होती है। यही हेय-यान है। हेय-यान का उपाय बतलाना ही हानोपाय है जो योग दर्शन का प्रतिपाद्य विषय है, इस प्रकार चार साधनायें— मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोग हैं, महर्षि पतञ्जलि का अष्टाङ्गयोग अत्यधिक प्रचलित है वे हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान एवं समाधि, ये सभी उस परमात्म तत्त्व तक पहुँचने की आवश्यक सीढ़ियाँ हैं परन्तु आज के इस परिवेश में मनुष्य एक मशीन की तरह ही होकर रह गया है, समय, आयु एवं शक्ति पहले की अपेक्षा बहुत ही अल्प मात्रा में रह गई है। यह सब देखते हुये हमारे परम समर्थ गुरुदेव ने धारणा, ध्यान एवं समाधि की ओर ही हमारी यह दशा देख आकर्षित किया है। इसमें गुरुकृपा एवं गुरु सानिध्य परम आवश्यक है, परमात्म तत्त्व अवर्णनीय, नाना प्रकार के वर्णनों का अभिप्राय नेति नेति में है, वर्णन और बोध ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय, की त्रिपुटी से परे अनुभूति स्वरूप परमतत्त्व है उस अनुभूति के लिये किसी समर्थ के समक्ष बैठना होगा।

उस परमतत्त्व की अनुभूति की प्राप्ति के लिये वे लिखते हैं जिसे गुरु का अनुग्रह मिला हो, गुरु सेवा के परमानन्द का जिसने भोग किया हो वही उसकी माधुरी जान सकता है। गुरु कृपा के बिना कोई साधक कभी कृतकार्य नहीं हुआ, श्री गुरु की चरण धूलि में लोटे बिना कोई भी कृतकृत्य नहीं हुआ, श्री गुरु बोलते चालते ब्रह्म हैं गुरु और शिष्य का सम्बन्ध पूर्वज और वंशज के सम्बन्ध जैसा ही है, श्रद्धा, नम्रता, शरणागति और आदर भाव से गुरु का मन मोह ले तभी उसकी आध्यात्मिक उन्नति हो सकती है, स्वानुभूति ज्ञान की चरम सीमा है, वह स्वानुभूति ग्रन्थों से नहीं प्राप्त हो सकती, पृथ्वी पर्यटन से नहीं मिलती, स्वानुभूति का यथार्थ रहस्य श्रीगुरु कृपा के बिना त्रिकाल में भी ज्ञात नहीं हो पाता है, उपनिषद शब्द का अर्थ ही है उप समीपं निषीदति प्राप्नोति अर्थात् जो उस परमतत्त्व के समीप पहुँच कर चुपचाप बैठ जाता है वह उपनिषद् है, '**गुरोस्तु मौन व्याख्यानम्**' अर्थात् गुरु चाहें तो मौन रह कर ही उस ब्रह्म का व्याख्यान करते या दर्शन करा देते हैं, कबीर साहब की वाणी के संकेत देखें–

'लागे प्यास नीर सो पीवै बिनु लागे नहिं पीवै।
खोजे तत्त्व मिलै अविनासी बिन खोजे नहिं जीवै॥
कहें कबीर कठिन यह करनी जैसे खंडे धारा।
उलटी चाल मिलै पारब्रह्म सो सतगुरु हमारा॥'

परम भागवत पण्डित जी महाराज की वाणी है–'पूरे घट बोलते नहीं छलकते भी नहीं, ऐसे ही पूर्णता प्राप्त साधक शान्त हो जाता है। वह अहं ब्रह्मास्मि, तत्त्वमसि आदि शब्द भी भूल जाता है, जब मैं ही ब्रह्म हूँ तो कहता किससे हूँ? जब तू ही तू है तो यह कहने वाला कौन है? जो कहता है तो समझो अभी कुछ कमी है, उसने पूर्णता में विलीन होने का साधन ही नहीं जाना।

महर्षि पतञ्जलि साधक को पहले ही सावधान करते हैं कि परमतत्त्व के साथ एकाकारता ही एकमेव लक्ष्य होना चाहिए, विभूतियों की प्राप्ति नहीं। विभूतियाँ तो इस पवित्र मार्ग पर यदाकदा सहज ही मिल जाने वाली पुष्प मात्र हैं। साधक को केवल चिरंतन दाता को खोजना चाहिए, उसके अलौकिक दानों को नहीं, भगवान उस साधक को कभी दर्शन नहीं देते जो स्वयं उनसे कम उपलब्धि से सन्तुष्ट हो जाता हो, इसीलिये प्रयासरत योगी अपनी अलौकिकता का प्रयोग न करने के विषय में सावधान रहता है कि कहीं उसके प्रयोग से उसमें झूठा अहंकार उत्पन्न होकर उसे कैवल्य की चरम सीमा तक पहुँचने से विमुख न कर दे, कर्म के लौह कण वहीं आकृष्ट होते हैं जहाँ अहंकार का चुम्बक अभी विद्यमान होता है।

जे ग्यान मान विमत्त तव भव हरनि भक्ति न आदरी।
ते पाइ सुर दुर्लभ पदादपि परत हम देखत हरी॥

रा.च.मा. ७/१३/३

अर्थात् ज्ञानाभिमान नीचे गिराता है। ज्ञानी अपने को कुछ मानता ही नहीं है और भक्त अपने को तुच्छ मानता है जिससे अभिमान न आने पावे, वेदों ने कहा है हमने उन ज्ञानाभिमानियों को गिरते हुये देखा है जो बड़ा अभिमान करते हैं। मुण्डकोपनिषद् के ऋषि कहते हैं–

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रे
गच्छन्ति नाम रूपे विहाय।
तथा विद्वान नामरुपाद्विमुक्तः
परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥
—मुण्डक ०३/२/८

जिस प्रकार बहती हुई नदियाँ अपने अपने नाम रूप को त्याग कर समुद्र में विलीन हो जाती है, वैसे ज्ञानी पुरुष भी मोक्ष की दशा में नामरूप से रहित होकर उस परात्पर परब्रह्म परमात्मा में विलीन हो जाता है, तात्पर्य यह है कि सजातीय वस्तु मिल जाने पर दोनों एक हो जाती हैं, पृथक नहीं रहतीं जीव और ब्रह्म दोनों एक ही हैं- दोनों एक हो जाते हैं 'जीवो ब्रह्मः नापरः, जब पूर्ण ज्ञान होता है तब वह अपने में ही आनन्दित होता रहता है, वहाँ कहना सुनना कुछ रह नहीं जाता है।

'जहाँ ज्ञान तहूँ द्वन्द्व न कोई,
बाद विवाद नहीं काहू सों गरक ज्ञान में ज्ञानी सोई॥'

गीता में भगवान् ऐसे ज्ञान में निमग्न योगी की दशा का वर्णन् इस प्रकार अपने शिष्य अर्जुन से करते हैं

'ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥
—गीता १८/५४

सच्चिदानन्द ब्रह्म एकीभाव से स्थित प्रसन्नमन वाला योगी न तो किसी के लिये शोक करता है और किसी की आकांक्षा ही करता है, ऐसा समभाव वाला योगी मेरी पराभक्ति को प्राप्त हो जाता है। भगवान यम स्वयं अपने मेधावी शिष्य नचिकेता को उस परमगति की स्थिति का ऐसे वर्णन करते हैं—

'यथा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तमाहुः परमां गतिम्॥
—कठ० २/३/१

गुरु प्रदत्त क्रिया का अभ्यास करते कर जब मन के सहित पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ भली भाँ स्थिर हो जाती हैं और बुद्धि में भी उस परब्रह परमात्मा के अतिरिक्त किसी भी वस्तु का तनि भी ज्ञान नहीं रहता, उससे कोई भी अन्य चेष् नहीं बनती, उस स्थिति को योगीजन परमग बतलाते हैं। कबीर साहब कहते हैं वह स्थिति उ एक में निमग्न होने में है—

'मैं लागा उस एक से, एक भया सब माहिं
सब मेरा मैं सबनि का, तहाँ दूसरा नाहिं॥

जैसे अर्जुन ने अपने रथ की लगाम भगवा के हाथों में सौंप दी वैसे ही अपने जीवन क बागडोर जो अपने गुरु को सौंप देते हैं उन्हीं विरल शिष्यों को वह स्थिति प्राप्त हो पाती है,

'पूरे से परचा भया, सब दुःख मेल्या दूर
निर्मल कीन्हीं आत्मा, ताते सदा हुजूर।
- कबीर साह

शंकराचार्य जी महाराज की वाणी है—'**अ ममेतिचाज्ञानमं**' यह मैं और मेरे की कल्पना ह अज्ञान है, माया है, बाधा है, इसीलिये गु महाराज स्वयं परमार्थ पथ के दसवें आलोक व अंत में यही लिखते हैं—'मैं और मेरा छोड़कर त और तेरा का पाठ सीखो, यही जीवन में धार करने का प्रयास करते रहें।

यह तो उनकी कृपा से ही प्राप्त हो पायेग बस गुरु महाराज से यही प्रार्थना है कि हमें 'म और मेरा' से बचाये रखें। ✦✦

गीत

— डा० श्यामसुन्दर सौनकिया

गुरु-पद पंकज प्रेम सार संसार स्वप्न सारा।
स्वार्थलीन सम्बंधों में भटका मन बेचारा॥

अनगिन सुख के सेतु रचे नव अनुसंधान किये।
व्यथा विमोचित हुई न तिलभर व्यर्थ विधान किये॥
गुरु शरणागत हो जा बन्दे क्लेश मिटे सारा।
स्वार्थलीन.................................॥

तैलधारवत ध्यान सतत्, विस्मरण न हो पाये।
वह नयनाभिराम छवि पलभर विलग न हो जाये॥
ज्ञान-रश्मि हर लेगी उर अज्ञान तिमिर सारा।
स्वार्थलीन.................................॥

उत्कट अभिलाषा, गहरा चिन्तन मन अनुरागी।
अन्तर्मुख साधन से हो अन्तर्मन वैरागी॥
सतगुरु कृपा विवेक मिले छूटे बंधन कारा।
स्वार्थलीन.................................॥

जग का मोह सरोवर गहरा भँवर न उलझाये।
सुत-वित-लोक एषणाओं में हृदय न रम जाये॥
सतगुरु शरण दिलाये सत, रज, तम से छुटकारा।
स्वार्थलीन सम्बंधों में भटका मन बेचारा॥

✦✦

योग विज्ञान की अनुभूत समाधियाँ

—परमपूज्य गुरुदेव

समाधि के अर्थ

समाधि के अर्थ बड़े विस्तृत हैं। अनेक ऋषियों ने इस के अर्थ अनेक प्रकार के लगाये हैं। कोई आत्मा को परमात्मा में मिला देने को समाधि बतलाते हैं। कोई प्राण, मन, बुद्धि और इन्द्रियों के व्यापार बन्द कर देने को समाधि का नाम देते हैं, इत्यादि। परन्तु भगवान श्री कृष्ण ने समाधि की जो व्याख्या की है, वास्तव में वही समाधि के अर्थ हैं। वे बतलाते हैं कि "गुणों को समता में ले आना और व्यवहार में परमार्थ और परमार्थ में व्यवहार का प्रवाह स्वाभाविक चलने लगना ही समाधि है"।

समाधि शब्द में दो शब्द मिले हुए हैं—एक 'सम' और दूसरा 'अधि'। यदि व्याकरण से दोनों के अर्थ निकाले जायँ तो यही बात समझ में आती है कि गुणों की साम्यावस्था ही 'समाधि' है। प्रकृति के ये गुण तीन हैं—सत, रज और तम। ये ब्रह्माण्ड में रहकर कार्य करते हैं और हमारे अन्दर भी इन्ही का कारोबार चल रहा है। इनकी विषमता में मनुष्य को क्रोध, अशान्ति और दु:ख मिलता है। जिन उद्योग शालियों ने गुरु का सहारा ले उनकी शिक्षा पर चलकर इन गुणों की विषमता को अपने भीतर से हटा दिया है और इनको एकधार करके समता में बहा दिया है, वही योगिराज एवं परम सन्त हैं। वही जीवन मुक्त पुरुष आनन्द और शान्ति धाम के निवासी हैं। किन्तु यह बहुत ऊँची बात है। माया की सातवीं मंजिल से भी परे की अवस्था है। विरलों के ही भाग्य की चीज है। इसलिये इस विषय पर हम नीचे से ही चलते हैं।

1. हठ योग की समाधि—समाधि के अनेक भेद हैं। प्रत्येक स्थान की समाधि अपना रूप और गुण अलग-अलग रखती है। जिज्ञासु जब साधना जगत् में प्रवेश करता है और ऊर्ध्वगति से ऊपर को बढ़ता है तो पहली समाधि उसे प्राणमय कोश की अन्तिम सीमा पर मिलती है। इस समाधि में साधक के हृदय पर से रज और सत् का प्रभाव हट जाता है। अतएव वह एक व्यायाम मात्र या केवल अचेतन सी अवस्था रह जाती है जिसे तामस आवरण जड़ समाधि भी कहा जाता है। अत: इस हठयोग से ऊपर उठकर राजयोग में प्रवेश करना होगा, फिर उससे भी आगे चलना होगा। तब ध्येय प्राप्त हो सकेगा। हमने जिस समाधि का नाम लिया है और आगे लिखने जा रहे हैं, वह यह समाधि नहीं है, वह ज्ञानपूर्वक समाधि है—चैतन्य समाधि है। इस चैतन्य समाधि से शीघ्र साक्षात्कार होता है।

2. राजयोग (मनोमय कोश) की समाधियाँ—हठयोग की तथा चैतन्य समाधियों के बीच में तीन अवस्थायें और आती हैं, जिनमें

इन दोनों समाधियों की मिलौनी रहती है, अज्ञान और चैतन्यता की मिली-जुली हालत उनमें चलती है। यह राजयोग की समाधियाँ कहलाती हैं, जो मनोमय कोश के स्थान पर साधक को आती हैं यह उस पहली से श्रेष्ठ हैं। कुछ आचार्यों ने इनको समाधि का नाम दिया है, पर योग के रचयिता महर्षि पतञ्जलि ने इनको समाधि की श्रेणी में नहीं लिया, साधना ही माना है।

नीचे उनका संक्षेप में विवरण देते हैं। हमारे यहाँ के साधकों को एवं उपासकों को यह पढ़के अपनी अवस्था का अन्दाजा लग सकेगा और कभी-कभी जो भ्रम उनके अन्दर फूट निकलता है वह दूर हो सकेगा।

प्रथम—जागृत समाधि

उपासना के साधन धारणा और ध्यान हैं, जब उपासक इनमें आगे बढ़ता है तो एक अवस्था आती है जिसमें उसे अपना ज्ञान नहीं रहता, अपने से बाहर की वस्तु का ज्ञान नहीं रहता परन्तु लक्ष्य या ध्येय का ज्ञान बना रहता है। उसे वह सम्मुख देखता रहता है। यद्यपि यह स्वरूप उसी की कल्पना का होता है, असली नहीं होता, परन्तु फिर भी अपनी भावनाओं की एक हद तक पूर्ति इसमें होती है, इसलिए इस अवस्था में साधक को बड़ा ही एक अद्भुत आनन्द मिलता है। वह खुशी और मस्ती में झूमने लगता है, प्रेम में विभोर हो जाता है। मन की सारी वृत्तियाँ सिमिट के उसी ध्येय पर केन्द्रित होने लगती हैं, इसलिये एक अलौकिक मनमोहक आकर्षण उसे अनुभव होता है, इसमें शरीर-मन-प्राण खिंचने लगते हैं। कभी-कभी एक दिव्य तेज अथवा दिव्य शब्द भी उनके सम्मुख आने लगता है। इसको शास्त्रीय भाषा में 'जागृत समाधि' कहते हैं इसमें सतोगुण प्रधान रहता है। अभ्यासी हर समय खुश और मस्त रहता है।

द्वितीय—स्वप्न समाधि

इस समाधि में जहाँ शरीर और शरीर से बाहर की वस्तुओं का ज्ञान लोप हो जाता है, वहाँ लक्ष्य भी छिप जाता है। प्रथम लक्ष्य कल्पना किया हुआ होता है, असली नहीं होता। इस कल्पना के समय एक तरंग केवल इष्ट के रूप की मन में शेष रहती है आगे बढ़ने पर वह शान्त हो जाती है। इस अवस्था में मन के लिए कोई काम नहीं रहता। मन का स्वभाव है कि यह बेकार बैठना एक क्षण को भी पसन्द नहीं करता इसलिये वह अन्तः करण में प्रवेश हो जन्मान्तर के इकट्ठे किये हुये संस्कारों के पन्ने पलटने लगता है, उस वक्त स्वप्न की दुनिया की तरह एक के बाद एक संस्कार उभर-उभर के उसके सम्मुख आने लगते हैं। सिनेमा की फिल्मों की तरह उनकी लड़ी लग जाती है और मन उनमें विहार करने लगता है। यहाँ रजोगुण प्रधान है।

तृतीय—सुषुप्ति समाधि

इसमें तमोगुण प्रधान होता है, इसलिए यह गाढ़ निद्रा की-सी एक अवस्था है, इसमें प्रवेश होते ही न तो लक्ष्य की कल्पना रहती है न संस्कारों का मार्जन होता है, न कोई बाहरी ज्ञान रहता है, केवल एक अज्ञान की अवस्था शेष रहती है, जिसमें मन कल्पना करना छोड़ देता है,

बुद्धि निश्चेष्ट हो जाती है—इसी को 'लय समाधि' या 'शून्य समाधि' भी कहते हैं। प्रथम में अनेक का त्याग करके मन एक पर आता है, द्वितीय में उस एक को भी अलग कर अन्तरीय जगत के तमाशे देखता है, उथल-पुथल में रहता है और इस तृतीय में बिल्कुल स्थिर, शान्त हो जाता है। इसी को शास्त्रों ने 'निरोधावस्था' कहा है।

3. ज्ञानयोग की समाधि—इसके परे ज्ञानयोग की समाधियाँ आती है जो विज्ञानमय कोश के बुद्धि क्षेत्र की हैं। महर्षि पतञ्जलि के मतानुसार योग विद्या का आरम्भ यहाँ से ही चलता है। यहाँ से नीचे मनोमय तक साधनावस्था ही है। योग के स्थान तक पहुँचने की तैयारी है—योग नहीं हैं। उनके कथनानुसार 'सविकल्प' और 'निर्विकल्प' (जिसे 'सवितर्क' और 'निर्वितर्क' भी कहते हैं) और 'सविचार' और 'निर्विचार' के भेद से पहली समाधि 'सम्प्रज्ञात' और दूसरी समाधि 'असम्प्रज्ञात' है जो ज्ञानयोग की है।

(अ) सम्प्रज्ञात समाधि (सविकल्प और निर्विकल्प समाधि)—वेदान्त जिसको 'विज्ञानमय कोश' कहता है, सन्त उसको 'त्रिकुटी' कहते हैं। इसी का नाम 'त्रिकूट पर्वत' वा 'कैलाश-गिरि' है; क्योंकि इसकी चोटी पर शिव का स्थान है। इस त्रिकुटी के स्थान में भी पञ्चतन्मात्राओं को लेकर कुण्डलिनी शक्ति ने पाँच स्थान बनाये हैं और इनके ऊपर छटा संधि स्थान है। इस प्रकार छः स्थानों में ठहरती हुई और अपने कारोबार के सिलसिले को मजबूत बनाती हुई सुरति की धार यहाँ व्यापक हो गई। पाँच तत्व—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, और आकाश—इस त्रिकुटी में—कारण अवस्था में होते हैं। शास्त्रों की भाषा में इन्हीं का नाम 'तन्मात्रा' है।

त्रिकुटी के निचले भाग में जब साधक प्रवेश करता है तो सबसे प्रथम उसे 'सविकल्प' समाधि की अवस्था प्राप्त होती है। यह पहली समाधि है, जो विज्ञानमय कोश में आती है। जब साधक इससे आगे बढ़ता है, तो दूसरी समाधि आती है जिस को 'निर्विकल्प' कहते हैं। यह 'निर्विकल्प' समाधि 'सविकल्प' की ही ऊँची एवं अन्तिम अवस्था है। इन दोनों को 'सवितर्क' और 'निर्वितर्क' समाधि भी कहते हैं।

सविकल्प—इस सविकल्प समाधि में सूक्ष्म मन और सूक्ष्म बुद्धि दोनों मिलकर सृष्टि के उन पदार्थों के रूप और गुण का निर्णय करते हैं, जिनमें पृथ्वी, जल और अग्नि—इन तीन स्थूल तत्वों का प्राधान्य रहता है, जिनको हम अपने बाहरी नेत्रों से देखते हैं और जिनको हम स्थूल कहते हैं। रोजाना देखते हुए और रोजाना इस्तेमाल करते हुए भी जो बारीकियाँ उन पदार्थों के अन्दर छिपी थीं, उनको हम नहीं जान सके थे। सविकल्प समाधि में ये सब भेद खुलते हैं उसकी बनावट में अन्तर क्या है? उसका भीतरी रूप क्या है? वह वस्तु कौन सा गुण और अवगुण रखती है। इस तरह लोक लोकान्तर, सूर्य चन्द्रमा, तारे, पृथ्वी और पृथ्वी पर की वस्तुयें

अण्डज, स्वेदज, जरायुज, तथा उद्भिज, चारों प्रकार की सृष्टि, वृक्ष और लताओं के गुण एवं उनकी भीतरी बनावट इत्यादि समाधि अवस्था में खुली आँखों दृष्टिगोचर होते हैं। उनका पूरा नक्शा दिमाग में खिंच जाता है। यद्यपि हम उस समय समाधि में होते हैं, बाहरी ज्ञान हमको नहीं होता, शरीर का होश भी नहीं रहता, परन्तु फिर भी हमको उस समय ऐसा जान पड़ता है कि हम जाग रहे हैं, अपने होश में हैं और ये सब ठीक-ठीक दिखाई दे रहे हैं।

निर्विकल्प—इस प्रकार अपने ज्ञान नेत्रों से देखते और समझते हुए ज्यों-ज्यों हम आगे बढ़ते जाते हैं त्यों-त्यों ही हमको ऐसा अनुभव होता है कि हमारा मन थकित होता जा रहा है। वह इस काम से पीछे हटने और बुद्धि का साथ छोड़ने के लिये उत्सुक हो रहा है। अन्त में एक दिन ऐसा आ ही जाता है कि अपनी संकल्पशक्ति को लेकर मन पीछे हट जाता है और बुद्धि के उस काम को बन्द कर देता है। अकेली बुद्धि कुछ नहीं कर सकती, इसलिये वह भी चुप होकर अलग खड़ी हो जाती है। अब न कोई दृश्य है और न दृश्य का ज्ञान तथा अज्ञान। इस अवस्था को कहते हैं—'निर्विकल्प समाधि'। जिस समाधि में तर्क न रहे, वह 'निर्विकल्प या निर्वितर्क' समाधि कही जाती है। इन दोनों में जीव के अन्दर द्वैतावस्था रहती है। 'मैं और मुझसे' भिन्न ये पदार्थ, जिनको मैं देख रहा हूँ और समझ रहा हूँ, द्वैत है।

सविचार और निर्विचार—मन के चले जाने पर बुद्धि चित्त को आकर्षित करती है। शुद्ध और सात्विकी चित्त ऊपर उठकर बुद्धि से मिलता है और बुद्धि चित्त की विचारशक्ति लेकर उसी अवस्था में फिर अपना काम शुरू कर देती है। पहले कल्पना थी अब विचार है। कल्पना शंका को पूर्ण रूप से दूर नहीं कर सकती, इसलिये उसमें तर्क-वितर्क आते रहते हैं। वह (कल्पना) निर्णायात्मक ज्ञान नहीं देती। कल्पना वस्तु के ऊपर ही ऊपर चक्कर लगाती है। वह गहराई में जाकर पूरा पता नहीं लाती ; इसलिये पूर्ण ज्ञान नहीं हो पाता। विचार की तेज और नुकीली धार परदों को चीरती हुई पदार्थ के अन्दर प्रविष्ट हो जाती है और उसके भीतर क्या भरा है, इसका ठीक-ठीक पता लगाती है, उस समय सच्चा और यथार्थ ज्ञान मिलता है। सविकल्प समाधि में स्थूल पदार्थों का ज्ञान हुआ था—पृथ्वी, जल और अन्य तत्वों से बने हुए लोक-लोकान्तर और शरीर दृष्टिगोचर हुए थे और वह ज्ञान भी शंकारहित नहीं था। अब यहाँ सविचार में सूक्ष्म तत्व सम्मुख आते हैं। उनसे बहुत से पदार्थ साफ-साफ दिखाई देते हैं और उनका यथार्थ ज्ञान होता है जिसमें शंकाओं का कोई स्थान ही नहीं रहता। ऐसा ज्ञान ही निश्चयात्मक ज्ञान बोला जाता है, जिसमें आत्मा को सन्तोष हो जाय और कोई सन्देह न रहे। प्रकृति के आठ तत्वों में तीन तत्व (पृथ्वी, जल, अग्नि) सविकल्प में तय हो गये। अब बचे हुए पाँच में से सूक्ष्म के दो तत्व वायु और आकाश सविचार समाधि में दिखाई देते हैं और उनके कार्य भी नजर आते हैं। शेष

कारण के तीन तत्व मन, बुद्धि और अहंकार निर्विचार समाधि में अनुभव में आते हैं, चूँकि यहाँ कुछ विचार तो रहता नहीं है, केवल अनुभव में आता है। और यह अनुभव लिखने और कहने में नहीं आता है। यह तो स्वयं अनुभव करने से ही समझ में आ सकता है।

(ब) असम्प्रज्ञात समाधि—जब साधक सम्प्रज्ञात समाधि की सविकल्प और निर्विकल्प, सविचार और निर्विचार—इन चार अवस्थाओं को पार कर ऊपर उठता है तो उस समय एक और विशेष अवस्था आती है जिसमें कल्पना, विचार और विवेक—ये तीनों शक्तियाँ नीचे छूट जाती हैं। इन शक्तियों के द्वारा जो ज्ञान हमको निचली अवस्थाओं में मिला था, उसकी केवल स्मृति या याद हमारे दिमाग में रहती है। इस समय हमारे अन्दर एक बेहोशी की हालत होती है, जिसमें हमको अपना ज्ञान नहीं होता। अपने से बाहर की वस्तु का भी ज्ञान नहीं रहता, परन्तु जो कुछ देखा या समझा था, उसकी स्मृति शेष रहती है। स्मृति के पर्दे पर उन सूक्ष्म वस्तुओं के ये रूप जो माया ने रचे हैं, धुँधले से दिखाई पढ़ते है, परन्तु विचार और विवेक के न होने से हम उनका निर्णय नहीं कर सकते। नक्शे की उन शक्लों को देखकर हम कोई फैसला नहीं दे सकते कि यह क्या चीज है। उस समय हम अवाक् से रह जाते हैं। हमारी बुद्धि मारी जाती है, हमारा दिमाग फेल हो जाता है और हम आश्चर्यचकित से उन रूपों को देखते ही रह जाते हैं, पर कुछ फैसला नहीं दे सकते। इस अवस्था को शास्त्रों ने असम्प्रज्ञात समाधि का नाम दिया है।

(स) शून्य और महाशून्य समाधि—सन्त समाज ने असम्प्रज्ञात के भी तीन भेद माने जिसको 'असम्प्रज्ञात', 'शून्य', 'महाशून्य' का नाम दिया है। यह सब बुद्धि की विशेष अवस्थाएँ हैं जो विज्ञानमय कोश में साधकों को आती हैं। आगे आनन्दमय कोश का स्थान है जिसकी समाधि को धर्ममेघ कहकर महर्षि चुप हो गये हैं—उसकी अधिक व्याख्या उनके दर्शन में नहीं मिलती है।

4. साम्ययोग वा सहज समाधि—भगवान श्री कृष्ण ने गीता में एक और समाधि का वर्णन किया है, जिसका नाम उन्होंने 'साम्ययोग' रखा है (योग और समाधि शब्दों के अर्थ एक ही होते हैं, इसलिये इनको 'साम्य समाधि भी कह सकते हैं।) योग दर्शन की 'धर्ममेघ' समाधि सम्भव है, यही हो इसलिये इसी समाधि की साम्यावस्था को ही सबसे ऊँचा माना जाता है। जैसा कि कहा है—'समत्वं योग उच्यते' अर्थात् सब योगों से ऊँचा समयोग है। इस समाधि की अवस्था में ज्ञान में अज्ञान और अज्ञान में ज्ञान रहता है। जाग्रत में सुषुप्ति और सुषुप्ति में जाग्रत की अवस्था साधक अनुभव करता है। मूढ़ समाधि, अथवा विज्ञानमय कोश की सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात की तरह उसके बाहरी कारोबार समाधि में रुकते नहीं हैं। वह किसी विशेष अवस्था में अपने को नहीं रखता, बल्कि सारे व्यावहारिक काम करता हुआ लोगों को दिखाई देता है, पर अन्तर में यह अपने को सबसे

शेष पृष्ठ 40 पर...

कर्मयोग विज्ञान

—श्री लखपति सिंह

कर्मयोग एक सहज स्वाभाविक योगमार्ग है, जिसके द्वारा मनुष्य संसार के सारे कार्य करता हुआ भी, सारे व्यवहार निभाता हुआ भी आत्मतत्व को प्राप्त कर सकता है। इसे गृहस्थी में विरक्ति और विरक्ति में गृहस्थी का नाम भी देते हैं, क्योंकि इसमें गृहस्थी से हटकर आत्मा की प्राप्ति के लिये अलग से कोई साधन नहीं होता। इसमें संसार और परमार्थ साथ-साथ चलते हैं, और ऐसे घुले-मिले समरस होकर चलते हैं कि वे पहचान में नहीं आते कि वे क्या हैं। इसमें आदमी दिखता कुछ और है, पर होता कुछ और है। यह एक ऐसा कर्मविज्ञान है, जिसके द्वारा मनुष्य कर्म करते हुए भी कर्म जनित दोषों से सदा निर्लिप्त रहता है।

विज्ञान बताता है कि वास्तव में कर्म करना मनुष्य का स्वभाव है। वह कर्म किए बिना पल भर भी नहीं रह सकता। इसीलिये मनुष्य योनि को कर्मयोनि भी कहते हैं। कर्म करना मनुष्य का एक विशेषाधिकार भी है क्योंकि मनुष्येतर सारी योनियाँ भोग योनियाँ हैं। उन्हें कर्म करने का अधिकार नहीं है। यहाँ तक कि देवलोक के प्राणियों को भी कर्म का अधिकार नहीं है। वे भी अपने पुण्य कर्मों के फल भोग तक ही वहाँ रहते हैं, पुण्य फल की समाप्ति पर पुनः वे इसी संसार में आकर जन्म ग्रहण करते हैं। मनुष्य जन्म पाने पर फिर उन्हें कर्म करने का अधिकार मिलता है। मनुष्य अपने कर्मों द्वारा अपने को ऊपर उठा सकता है या नीचे गिरा सकता है। मनुष्य जन्म पा जाने से ही कोई मनुष्य नहीं बन जाता, उसके मनुष्योचित कर्म ही वास्तव में उसकी पहचान है। वह अपने सत्कर्मों के द्वारा सुर बन सकता है, दुष्कर्मों के द्वारा असुर बन सकता है या निष्काम कर्मों के द्वारा मोक्षधाम का वासी भी बन सकता है। कहा जाता है कि मनुष्य योनि एक सीढ़ी के समान है, चाहे इसके सहारे नरक में उतर जाओ, स्वर्ग में ऊपर उठ जाओ या उससे भी ऊपर अपवर्ग में पहुँच जाओ यह सब कर्मों का चमत्कार है। यह सब मनुष्य के अपने हाथ में है, क्योंकि उसके पास कर्म करने का विशेषाधिकार है। यह विशेषाधिकार एक ऐसा वरदान है जिसके प्रभाव से सभी लोकों पर मनुष्य का अधिकार हो जाता है।

भक्ति योग के अलावा अध्यात्म के क्षेत्र में मुख्यतः दो मार्गों का उल्लेख शास्त्रों में आता है- एक ज्ञान योग, दूसरा कर्मयोग। इनमें से एक में कर्मों का त्याग है, दूसरे में कर्मों का साथ है। बाकी सभी योग साधन इनकी ही श्रृंखलाओं में आगे-पीछे जुड़े हैं। ज्ञानयोग की दृष्टि में सारे संसारी कर्म चाहे वे तामसी कर्म हों, राजसी हों या सात्विक कर्म हों, बन्धनकारक ही हैं। तामसी कर्म यदि लोहे की वेणी हैं, तो राजसी कर्म रजत की और सात्विक कर्म सुवर्ण की। सभी कर्मों के

अच्छे-बुरे संस्कार बनते हैं, उनके भोग बनते हैं और जीवात्मा उन्हीं संस्कारों और भोगों के जंजाल में फँसा जन्म-जन्म कष्ट उठाता जीता-मरता रहता है। आवागमन की अन्तहीन यात्रा से न उसे फुर्सत मिलती है, न उसे सुख-शान्ति नसीब होती है। इसलिये ज्ञानमार्गियों ने कर्मों को तिलांजलि दी। उन्होंने घर गृहस्थी का त्याग किया, बाल-बच्चों को छोड़ा, माता-पिता को छोड़ा और जंगल कन्दराओं की राह ली। उन्होंने कहा- हम संन्यास ले रहे हैं, हमारा किसी से कोई वास्ता नहीं है। संसार एक कारागार है, यहाँ कुछ भी करो, अच्छा या बुरा, फँसना ही फँसना है। इसलिये हम इस कारागार से निकलकर आजाद होना चाहते हैं। और उन्होंने सभी तरह के कर्मों से संन्यास ले लिया। यह ज्ञानमार्ग या संन्यास मार्ग कहलाया।

ठीक इसके विपरीत कर्मयोगी कर्मों से संन्यास नहीं लेता, बल्कि वह कर्मों को साथ लेकर चलता है। कर्म ही उसकी साधना है। वह कर्मों को और भी सुन्दर ढंग से करता है। उनका कहना है कि कर्म करना हमारा जन्मजात स्वभाव है। इसे हम छोड़ नहीं सकते। जीवन में इसका लाभ उठाना हमारा विज्ञान-सम्मत पवित्र कर्त्तव्य है। हम कर्मों के द्वारा ही पूर्ण शान्ति और आनन्द प्राप्त करेंगे। कर्म योग विज्ञान कर्म करने की वह अद्भुत कला है जिससे न कर्मों के संस्कार बनते हैं, न भोग। मनुष्य कर्म करता हुआ भी अकर्त्ता बना रहता है, निर्लेप बना रहता है। कर्मयोग का मानना है कि कर्म किए बिना कोई पल भर भी नहीं रह सकता। कोई कुछ न करे तब भी जीवन रक्षा के लिये तो कर्म करने ही पड़ेंगे। आवश्यकता न होने पर भी कर्मयोगी लोक शिक्षण के लिये कर्म करना अपना कर्त्तव्य मानता है। इसलिये संसार में रहते हुए कभी भी किसी काल में भी कर्मों का स्वरूप से सर्वथा त्याग संभव नहीं है। जो लोग बलपूर्वक या हठपूर्वक कर्मेन्द्रियों को कर्मों से अलग किए रहते हैं, मगर अन्तर में उन कर्मों के प्रति विषय विकार पाले रहते हैं, शास्त्र उन्हें महामूढ़ की संज्ञा देते हैं। कर्मों के प्रति मन में विषय वासना भरी रहे तो उनका त्याग कहाँ हुआ। इसीलिये कर्मयोगी कर्मों को स्थूल रूप से त्यागने की बात सोचता भी नहीं। वह मानता है कि कर्मों के प्रति आसक्ति का त्याग ही सच्चा त्याग है, चाहे घर में रहो या वन में इससे क्या फर्क पड़ता है? कर्मेन्द्रियों पर संयम रखते हुए अनासक्त भाव से कर्त्तव्य कर्मों का आचरण कर्मयोग का विज्ञान है। कर्मों के जिन संस्कारों और भोगों से भयभीत होकर ज्ञानी व संन्यासी घर-गृहस्थी छोड़कर जंगलों में भाग जाता है, कन्दराओं में छिप जाता है, वहीं कर्मयोगी घर-संसार को सुखपूर्वक भोगता हुआ भी संस्कारों से सहजता से मुक्ति पा जाता है।

कर्मयोग का विज्ञान बताता है कि कर्मयोगी, फल की आशा न रखते हुए कर्त्तव्य भाव से कर्म किए जाता है। फल की आशा या इच्छा ही बंधन का कारण होती है। हर मनुष्य को उसकी योग्यता क्षमता और स्वभाव के अनुसार समाज और विश्व के प्रति तथा अपने प्रति भी कुछ जिम्मेवारियाँ निर्धारित होती हैं, कुछ जिम्मेवारियाँ सौंपी गयी होती हैं। वहीं उनके

नियत कर्म कहे जाते हैं। उन्हें सच्चे दिल से बिना राग-द्वेष के पूरा करना हर मनुष्य का कर्त्तव्य है। यही मुक्ति है। अपनी ड्यूटी पूरी कर ली, फिर अपने घर, कोई कुछ पूछने वाला रोकने वाला नहीं। इसलिये यह अपना कर्त्तव्य पालन ही मुख्य धर्म है, उसकी एकमात्र पूजा है। गीता कहती है कि तुम्हारे नियत कर्म ही पूजा हैं, मुक्ति का साधन हैं। यदि आदमी अपने नियत कर्मों का ठीक-ठीक निर्वाह कर ले तो परम लक्ष्य परमात्मा को पाने या मुक्ति पाने के लिये और कुछ नहीं करना है। कर्म छोटे-बड़े, उच्च-नीच नहीं होते चाहे वे ब्राह्मणोचित कर्म हों, क्षत्रियोचित कर्म हों, वैश्य या मजदूरी, सफाई कर्म हों, कर्मयोग में सब का मान बराबर है। जिसका जो नियत कर्म है वही उसका योग मार्ग है। यहाँ तक कहा गया है कि नियत कर्मों में दोष नजर आवे तब भी उसका त्याग करना उचित नहीं है क्योंकि आग में धुएँ की तरह यहाँ हर कर्मों में कोई-न-कोई दोष अवश्य ही होता है। इसलिये कर्मयोगी अपने नियत कर्मों में गुण-दोष का विचार न कर समभाव से, निष्कामता के साथ अपने कर्मों द्वारा विश्वरूप परमात्मा की सेवा में सदा तत्पर रहता है।

कर्मयोगी अपने कर्त्तव्य के प्रति सदा समर्पित होता है। वह कर्म की सिद्धि-असिद्धि में समान भाववाला होता है। फल की प्राप्ति पर न तो वह खुशी का इज़हार करता है। न तो फल की अप्राप्ति पर विषाद ही करता है। वह जय-पराजय, लाभ-हानि, मान-अपमान, सुख-दुख में समान भाववाला होता है। राग-द्वेष रहित होकर साम्यभाव से कार्य करना ही कर्मयोग का विज्ञान है। इसलिये इसे साम्ययोग भी कहते हैं। यह संसार और परमार्थ में एक संतुलन बनाकर चलता है, यही समता कर्मयोग का मूल है। उसमें कर्त्तापन का अभिमान नहीं होता, इसलिये न वह कर्त्ता बनता है, न भोक्ता और हर कर्मों को करता हुआ भी वह हर दशा में निर्लेप और बेदाग बना रहता है।

कर्मयोग में इस स्थिति को कर्म में अकर्म की स्थिति कहते हैं जब कर्म होते हुए भी कोई संस्कार या भोग नहीं बना तो ऐसे कर्मों को यज्ञ कर्म की संज्ञा दी गयी है जो बंधनकारक नहीं होते, बल्कि मुक्ति के साधन होते हैं। कर्मयोगी को इसका भान नहीं होता कि वह कोई योग या साधन कर रहा है। ईश्वर या मोक्ष की प्राप्ति भी उसका उद्देश्य नहीं होता। वह तो समभाव में स्थित अपने कर्त्तव्य पालन में सदा तत्पर रहता है। संसारीजन जो काम करते हैं, एक कर्मयोगी भी ठीक वही काम करता है, वह भी घर-गृहस्थी में तल्लीन दिखायी देता है, दोनों एक समान दिखते हैं, मगर दोनों की दिशाएँ दो होती हैं, फल भी अलग-अलग होते हैं। एक के संस्कार बनते हैं, भोग बनते हैं और जीवात्मा कर्मों के जाल में फँसती जाती है। जिससे निकलना कठिन हो जाता है। दूसरी ओर उन्हीं कर्मों को करता हुआ निष्काम कर्मयोगी मुक्तिधाम की ओर बढ़ता जाता है। बाहर से देखने में दोनों में कोई अन्तर नहीं, मगर वास्तव में एक नीचे गिरता जा रहा है, दूसरा ऊपर उठता जा रहा है। एक कारागार के भीतर जा रहा है, दूसरा उससे बाहर आ रहा है।

कर्मयोग विज्ञान कहता है कि कर्म ही बंधन है और कर्म ही मुक्ति है। कर्म ही मनुष्य को ऊपर उठाते हैं और कर्म ही नीचे गिराते हैं। भव बंधन से मुक्ति उसके अपने हाथ में है। वह आप ही अपना मित्र है और आप ही अपना शत्रु है। अपने कर्मों को सुधार लो, कर्मों को पवित्र बना लो पूजा बना लो जीवन सँवर जायेगा, आत्मा प्रसन्न होगी ईश्वर प्रसन्न होगा, सर्वत्र आनन्द ही आनन्द होगा। संसार में कोई भी काम करो, सावधानी से करो, राग-द्वेष रहित होकर करो, अनासक्त होकर, अहंकार रहित होकर करो, कर्त्तव्य भाव से निष्कामता से करो कोई भी कर्म बंधनकारक नहीं होगा। तुम सदा मुक्त रहोगे, आत्मलोक के वासी रहोगे। यही कर्मयोग है जिसे आज से पाँच हजार वर्ष पूर्व भगवान कृष्ण ने शिष्य अर्जुन के माध्यम से संसार को दिया था और जिसे आज के युग में पुनः परमपूज्य श्री गुरुदेव ने सारे संसार को दिया है। कर्मयोग की इस नूतन ज्योति से आज हमारा अन्दर-बाहर प्रकाशित हो रहा है। इस कृपा के लिये हम सब कृतज्ञ हैं।

✦✦

पृष्ठ 36 का शेष....

अलग-अलग और सबसे ऊँचा रखता है। एक ओर वह आत्मा के अमृत रस का पान करता हुआ परमार्थ में जुटा रहता है और दूसरी ओर व्यावहारिक कार्य करता हुआ संसारी बना रहता है। तराजू के दोनों पलड़े उसके बराबर रहते हैं, न इधर कमी न उधर कमी। कर्ता में अकर्ता और अकर्ता में कर्तापन की यह अवस्था उसकी ऐसी स्वाभाविक चलती रहती है, जिसके लिये उसे कोई विशेष उद्योग नहीं करना पड़ता। वह अपने को कर्मों में लिप्त होने नहीं देता, बल्कि यह जगत् की मायावी मशीन जो कुछ करती जाती है, उसे वह दूर खड़ा हुआ देखता रहता है। संस्कारवश उसके जीवन में भी सुख और दुःख आते हैं, अच्छे और बुरे कर्म भी उसके शरीर द्वारा होते रहते हैं, पर इनमें से किसी के लिये वह कर्तापन का अभिमान अपने अन्दर नहीं करता। केवन दृष्टा रहता है। अपने अथवा दूसरों के अच्छे और बुरे कर्मों के फल भी उसके सम्मुख आते हैं पर यह उनके लिये भी दृष्टा ही रहता है। जहाँ कर्तापन का अभिमान उसमें नहीं रहता, वहाँ भोक्तापन का भ्रम भी उसका दूर हो जाता है। यह ज्ञान उसका अपने ही तक सीमित नहीं रहता, दूसरों को भी वह कर्ता की दृष्टि से नहीं देखता, इसलिये उसके राग-द्वेष छूट जाते हैं, सुख मिलने पर वह संसारियों की तरह हर्ष से फूल नहीं जाता और विपत्ति आने पर घबड़ा नहीं जाता। दोनों दशाओं में एक सा ही रहता है। इस प्रकार वह हर्ष-शोक के भी परे हो जाता है। ऐसा मनुष्य दृष्टा बनकर इस द्वन्द से बच निकलता है और पूर्ण शान्ति, पूर्ण ज्ञान और पूर्ण सुख को सदैव के लिये प्राप्त कर लेता है। यह 'साम्ययोग' या 'साम्य समाधि' मानी जाती है और वास्तविक समाधि के अर्थ में ही यह समाधि आती है, अतः इसको 'सहज समाधि' कहते हैं। ✦✦

योग विज्ञान पर आधारित ध्यान क्रिया

—डा० जी०डी० पारीक

रामाश्रम सत्संग मथुरा के प्रवर्तक समर्थ गुरु परमपूज्य डा० चतुर्भुज सहाय जी द्वारा प्रतिपादित आन्तरिक ध्यान की क्रिया योग व विज्ञान का अदभुत योग है। यह क्रिया शास्त्र सम्मत होने के साथ-साथ वैज्ञानिक पद्धति पर भी आधारित है।

क्या है वैज्ञानिक पद्धति—वैज्ञानिक पद्धति द्वारा किसी विषय के अध्ययन या आविष्कार के लिये कुछ नियमबद्ध एवं क्रमानुसार चरण होते हैं, जिनका पालन करना आवश्यक होता है। ये चरण हैं—

1. समस्या का निर्धारण—वैज्ञानिक पद्धति के द्वारा अध्ययन के प्रथम चरण में अध्ययनकर्ता के अन्दर किसी विशेष समस्या के निराकरण हेतु विचार उत्पन्न होता है। जैसे एक बार महान वैज्ञानिक न्यूटन ने अपने बगीचे में लगे पेड़ से लगे सेब को नीचे गिरते देख कर सोचा कि आखिर सभी वस्तुएँ नीचे ही क्यों गिरती हैं? उन्होंने इस समस्या का वैज्ञानिक पद्धति से अध्ययन कर गुरुत्वाकर्षण बल की खोज की। इसी प्रकार श्री गुरु महाराज ने देखा कि इस घोर कलिकाल में अशान्ति और अज्ञान के अन्धकार में डूबा मनुष्य असहनीय दु:खों से दु:खी होकर कराह रहा है। उसको दूर-दूर तक कोई सुख व शान्ति का सही मार्ग दिखाई नहीं दे रहा है। यह देख दीन-दयालु के हृदय में लोक-कल्याण का यह भाव जागा कि मैं किस प्रकार से इन दीन-दु:खियों का सही व सरल मार्ग प्रशस्त करूँ ताकि यह सब लोग सुखी व शान्त हो सकें।

2. तथ्यों का संग्रह—जिस प्रकार वैज्ञानिक, अध्ययन के दूसरे चरण में वर्तमान समस्या के सन्दर्भ में पूर्ववर्ती अध्ययनकर्त्ताओं द्वारा किये गये अध्ययनों के तथ्यों का संग्रह व अध्ययन करता है। ठीक उसी प्रकार श्री गुरु महाराज ने बहुत से धार्मिक ग्रन्थों यथा वेद, पुराण, गीता, रामायण आदि का गहन अध्ययन करने के साथ-साथ बहुत सी सामाजिक व धार्मिक संस्थाओं में जाकर समस्या के हल को खोजने का प्रयास किया। लेकिन आपको कहीं भी तसल्ली नहीं हुई। अंततः आपने निष्कर्ष निकाला कि इस समस्या का एकमात्र हल आत्मज्ञान प्राप्ति अथवा ईश्वर-दर्शन ही है।

3. परिकल्पना—इस चरण में वैज्ञानिक संग्रहित तथ्यों का गहन अध्ययन व विश्लेषण करता है। तत्पश्चात इनसे प्राप्त परिणामों को हृदय में मंथन कर समस्या के हल की परिकल्पना करता है। इस समय में उसको इस विषय के जानकार, किसी अनुभवी वैज्ञानिक की सहायता की आवश्यकता जान पड़ती है, जो कि उसका उचित मार्गदर्शन कर सके। इस चरण को पार करने में श्री गुरु महाराज पर परमपिता परमेश्वर की असीम अनुकम्पा हुई और आपको महात्मा श्री रामचन्द्र जी महाराज, फतेहगढ़ वालों के रूप में अनुभवी और समर्थ गुरु मार्ग-दर्शक मिल गये। श्री महात्मा जी महाराज ने अपनी शक्ति से आपको आत्मदर्शन या ईश्वर-दर्शन के

मार्ग में आने वाले समस्त पड़ावों को पार करा कर अध्यात्म के उच्च शिखर पर अवस्थित कर दिया। इसके पश्चात महात्मा जी ने श्री गुरु महाराज जी से कहा कि अब आप स्वयं के प्रयास से बताई गयी साधना को करते हुये नीचे से ऊपर के पड़ावों को पार करो और मार्ग में आने वाली बाधाओं, दृश्यों आदि का स्वयं अनुभव करो।

4. प्रयोग—अध्ययन के चौथे चरण में वैज्ञानिक, तथ्यों से प्राप्त निष्कर्षों और इस पर की गयी परिकल्पना के आधार पर बहुत से प्रयोग करते हैं। इस चरण के सन्दर्भ में श्री गुरु महाराज ने महात्मा श्री लाला जी महाराज के मार्ग निर्देशन में लगभग बारह वर्षों तक कठोर साधना की। इस साधना के फलस्वरूप आपको आत्म-साक्षात्कार अथवा ईश्वर-दर्शन के परम् लक्ष्य को पाने में सफलता मिली। यह दर्शन ही आपकी उस समस्या का समाधान भी था, जिसका वर्षों पूर्व हल खोजने आप चले थे।

5. सिद्धान्त—अध्ययन के इस अंतिम चरण में वैज्ञानिक प्रयोगों से प्राप्त निष्कर्षों के आधार पर एक सिद्धान्त प्रतिपादित करते हैं। यहाँ यह शर्त है कि यह सिद्धान्त सार्वभौमिक व सर्वमान्य होना चाहिए।

इस चरण में श्री गुरु महाराज ने आत्म ज्ञान प्राप्ति हेतु उपासना पद्धति पर आधारित आन्तरिक ध्यान की क्रिया का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। आपने दावे के साथ कहा कि कोई मनुष्य समर्थ गुरु के निर्देशन में इस क्रिया को करके इसी जन्म में भव सागर से पार पाकर, आवागमन के झंझटों से मुक्ति पा सकता है। उनका यह दावा अक्षरश: सिद्ध भी हो रहा है। जिसने भी किया उसने ही पाया। इसी अवस्था को शास्त्रीय भाषा में मोक्ष या मुक्ति की अवस्[था] कहते हैं।

सार्वभौमिक व सर्वमान्य सिद्धान्त—श्[री] गुरु महाराज द्वारा प्रतिपादित यह सिद्धान्त कि[सी] विशेष क्षेत्र, वर्ग, कुल, लिंग, जाति, ध[र्म] संप्रदाय आदि के लिए न होकर सभी के लि[ए] समान रूप से लागू होता है। साधना के इस प[थ] पर चलकर न केवल भारतवर्ष में, वरन् विदेश [में] रह रहे बहुत से लोग भी आत्मोन्नति का प्रत्य[क्ष] अनुभव कर चुके है और कर रहे हैं। वस्तुत: श्[री] गुरु महाराज की यह साधना पद्धति अब कि[सी] प्रकार की बहस का विषय न होकर आत्म[-] कल्याण का सार्वभौमिक व सर्वमान्य सिद्धा[न्त] सिद्ध हो चुका है। अत: हम यह कह सकते हैं [कि] श्री गुरु महाराज जी द्वारा प्रतिपादित आन्तरि[क] ध्यान की यह क्रिया पूर्ण रूप से वैज्ञानिक पद्ध[ति] पर आधारित है।

योग व विज्ञान का संयोग—वैज्ञानि[क] पद्धति पर आधारित होने के साथ-साथ य[ह] साधना उपासना-योग की साधना है। श्री गु[रु] महाराज की आन्तरिक ध्यान की साधना पद्ध[ति] में प्रथम गुरु और शिष्य एक दूसरे के सम[क्ष] बैठते हैं। तत्पश्चात् शिष्य गुरु अथवा परमात्[मा] के चैतन्यस्वरूप का ध्यान करता है। इस साध[ना] के फलस्वरुप शनै:-शनै: भक्त की आत्मा प[र] जमे मल, विक्षेप और आवरण के संस्कार रू[पी] मैल साफ होने लगते हैं। और अंतत: उस[के] अन्तर में आत्म-ज्ञान रूपी उजाला हो जाता है[।] भक्त अपना असली रूप या आत्म-दर्शन क[र] कृतार्थ हो जाता है। यही इस साधना योग विज्ञा[न] का लक्ष्य भी। ✦

सागर सेतु

—डा० ऋषि कुमार 'मुकुल'

संसार के अन्य विज्ञानों की भाँति योग भी एक विज्ञान है। यह विज्ञान आन्तरिक जगत के तथ्यों का विश्लेषण करता है। इसका प्रत्यक्ष अनुभव योग के ज्ञान द्वारा प्राप्त होता है। जिस विद्या के द्वारा ये अनुभव प्राप्त होते हैं उसका नाम योग विज्ञान है।

एक सुन्दर उदाहरण है—एक बार एक सम्राट भारत वर्ष में आया। उसके गुरु ने उसे भारतीय साधुओं से साक्षात्कार करने का आदेश दिया था। बहुत खोज करने के बाद उसने देखा, एक साधु पत्थर पर बैठे हैं। सम्राट ने उनसे कुछ देर बातचीत की और उनके ज्ञान से बड़ा प्रभावित हुआ। उसने साधु को अपने साथ अपने देश ले जाने की इच्छा प्रकट की। साधु ने स्वीकार नहीं किया और कहा मैं इस वन में बड़े आनन्द में हूँ। सम्राट बोला मैं समस्त पृथ्वी का सम्राट हूँ, मैं आपको असीम ऐश्वर्य और उच्च पद दूँगा। साधु बोले ऐश्वर्य, पद, आदि किसी बात की मेरी कामना नहीं। तब सम्राट ने कहा आप यदि मेरे साथ न चलेंगे तो मैं आपको मार डालूँगा। साधु ने विनम्र भाव से कहा तुम्हारी क्या हस्ती कि तुम मुझे मारो। सूर्य मुझे सुखा नहीं सकता, अग्नि मुझे जला नहीं सकती, तलवार मेरा संहार नहीं कर सकती। क्योंकि मैं तो अविनाशी नित्य विद्यमान सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान आत्मा हूँ। तुम अपने आपको विश्व विजेता जानते हो लेकिन तूने तो अपने क्रोध पर, कामना पर ही विजय नहीं प्राप्त की है। पहले स्वयं को जीतो एवं जानो। इसी ज्ञान का प्रत्यक्ष अनुभव हमें योगविज्ञान कराता है।

एक महान् वैज्ञानिक जगदीश चन्द्र बोस का अविष्कार रहा कि पेड़-पौधे साँस लेते हैं, उन्हें भी सुख-दुःख की अनुभूति होती है और इसे दुनिया के सामने रखा। इसी प्रकार प्राणी जन्म लेता है, युवा होता है, बीमार पड़ता है, वृद्ध होता है एवं मृत्यु को प्राप्त करता है। इसके पीछे छिपे सत्य का आविष्कार महर्षि पतंजलि ने, भगवान बुद्ध ने, हमारे गुरु महाराज ने एवं अनेक महापुरुषों ने किया। यह आंतरिक विज्ञान स्वयं का विज्ञान है। यह ज्ञान का ज्ञान है। एक हजारों हजार किलोमीटर की दूरी को कम करता है तो एक दिल से दिल की दूरी को। एक में शान्ति है दूसरे में नहीं। जिस प्रकार गुरुत्वाकर्षण का सिद्धान्त मनुष्य के पता लगाने के पूर्व से ही अपना काम करता चला आया है और आज यदि मनुष्य भूल भी जाये तो भी वह नियम अपना काम करता ही रहेगा। वैसे ही हम जाने न जाने आत्मा अपना प्रकाश देता रहेगा। और योग विज्ञान द्वारा हम उस प्रकाश को पा सकते हैं।

योग विज्ञान एक ऐसा विज्ञान है जो बताता है कि यह संसार माया है। जैसे हम सभी दूरदर्शन पर देखते हैं नदी, पर्वत, जंगल, शहर, खेल,

आदि। लेकिन जानने वाले जानते हैं कि वहाँ कुछ भी नहीं एक स्क्रीन मात्र है। वास्तविकता कहीं और है, उसी वास्तविकता का ज्ञान योग विज्ञान है। हमारे अंदर एक चित्त शक्ति है उसी पर हम ये सब देखते हैं। हम भयभीत हैं, पीड़ित हैं, हमारे अन्तर का ही वह बीज है जो बाहर दिखाई पड़ता है और मेरी ही आवाज पलट कर मेरे पास आती है। मेरा ही कृत मेरे सामने आता है। एक प्रसंग है भगवान बुद्ध के शिष्य मोगलान कुछ भिक्षुओं के साथ यात्रा कर रहे थे। यात्रा में उनको एक पत्थर से चोट लग जाती है और पैर से खून निकलने लगता है। मोगलान आखें बंद करते हैं, उनके चेहरे की भाव-भंगिमा बदल जाती है। भाव से ओत-प्रोत हो जाते हैं। फिर थोड़ी देर बाद आँखें खोलते हैं। साथी भिक्षुक पूछते हैं कि आपको चोट लगी, खून बहने लगा और आप समाधि में जैसे खोने लगे। मोगलान ने कहा कि कभी मारा होगा किसी को पत्थर वो हिसाब आज बराबर हो गया। इसलिए मैं प्रभु का धन्यवाद कर रहा था।

परम् समर्थ गुरु महाराज योग के वैज्ञानिकों की श्रृंखला को गरिमा प्रदान करते हुये एक योग के वैज्ञानिक के रूप में स्थापित हैं जो कि अपने आप में एक अध्यात्म के स्कूल हैं। वे सिर्फ ए दार्शनिक ही नहीं बल्कि एक वैद्य भी हैं। मानव के रोग को समझे 'अज्ञान'। औषधि रूप में साधन एवं भजन की शैली प्रदान की अ भंडारे के रूप में पाँच कोश के लिये पाँच बैठ का प्रबन्ध कर दिया। रोग का निदान हो सक है रोग का इलाज हो सकता है और जब बीमा चली गई तो जो शेष बचा वही स्वास्थ्य है। इसव अनुभव किया जा सकता है। इस भव रोग व इलाज आपने किया और मार्ग प्रशस्त कर दिया जैसे बीमार होने का अहसास तो सबको होता लेकिन स्वस्थ्य होने का किसी-किसी को शास्त्र कहते हैं यथा दृष्टि तथा सृष्टि। योग इ चर्म दृष्टि को आत्म दृष्टि में परिणित कर देता और हमें शांति मिलती है। भ्रम मिट जाता है।

गीता बताती है कि न दुःख है, न सुख है, दिन है, न रात, मैं हूँ न तुम सिर्फ एक प्रकाश है आनन्द है। परम् भागवत कहते हैं कि हमा सत्संग एक रिसर्च सेन्टर है, यहाँ की जो साधन है वह एक दिन हमें वहाँ पहुँचा कर स्थिर क देती है। गुरु महाराज से प्रार्थना है, हम सब प दया करें।

अमृत वचन

आत्मा की शक्ति ही यथार्थ में शक्ति है। सारा विश्व उसी से है। तुममें जो कुछ है, उस शक्ति का ही प्रकाश है। उस शक्ति से ही यह जीवन है। वह शक्ति आपके पास जितनी अधिक है, उतने ही आप प्रसन्न हैं, उतने ही आप शक्तिवान हैं। ज्यों-ज्यों यह कम होती जाती है, जीवन दुःखमय औ भारमय हो जाता है। इसलिए अपने जीवन को शक्ति सम्पन्न बनाओ और तभी समझो कि हम जीवित हैं। शक्ति रहित जीना मृत्यु के तुल्य है। इसलिए संसार में जीने वाले बहुत कम हैं, हाँ! जीते से बहुत हैं।

—परम भागवत परमसंत पं. मिहीलाल जी

योग विज्ञान में समर्पण योग की कसौटी

—श्री गाफ़िल बरनी

साधना का अन्तिम लक्ष्य....साधना की अन्तिम मंज़िल ''समर्पण'' है। इस लक्ष्य पर... इस मंज़िल पर पहुँचकर साधना तो समाप्त हो जाती है परन्तु अभी ''समर्पण-योग'' प्राप्त होना बाकी रहता है। ''समर्पण-योग'' तब प्राप्त हुआ समझना चाहिए जब साधक समर्पण की अवस्था में स्थित होकर जीवन जीने लगे।

सूफ़ीमत में समर्पण को ''फ़ना'' कहते हैं। फ़ना का अर्थ है—मिट जाना, नाश हो जाना, मर जाना, अर्थात जब साधक अपने अस्तित्व को... अपने अहं को पूरी तरह ईश्वर में लय कर दे। सूफ़ियों के यहाँ इस अवस्था को ''फ़नाफ़िल्लाह'' कहते हैं। सूफ़ीमत में यह भी मान्यता है कि यदि साधक अपने-आपको गुरु में लय कर दे तो उसे ''फ़नाफ़िलशेख'' की अवस्था प्राप्त हो जाती है और चूंकि गुरु हमेशा ईश्वर में लय रहते हैं इसलिए फ़नाफ़िलशेख होते ही साधक फ़नाफ़िल्लाह हो जाता है। यह अवस्था फ़ना अर्थात् समर्पण की है और समर्पण योग तब होता है जब साधक फ़नाफ़िल्लाह की अवस्था में स्थित होकर जीने लगे। इस अवस्था को सूफ़ियों के यहाँ ''बक़ा'' कहते हैं।

कसौटी

साधक ने समर्पण तो कर दिया, परन्तु यह कैसे पता चले कि वास्तव में उसे ''समर्पण-योग'' की अवस्था प्राप्त हुई है या नहीं। इसको परखने की कसौटी यह है कि जब समर्पण-योग की अवस्था प्राप्त हो जाती है तो साधक को अन्य अनेक गुणों के साथ-साथ मुख्यत: यह चार गुण प्राप्त हो जाते हैं—

(1) उसकी अपनी कोई स्वतन्त्र इच्छा नहीं रह जाती बल्कि जो मालिक की इच्छा होती है वही उसकी भी हो जाती है। सूफ़ी-संत इब्राहीम अधम फ़रमाया करते थे कि एक दिन बाज़ार से गुज़रते हुए मैंने देखा कि एक जगह गुलाम नीलाम किए जा रहे हैं और एक आदमी एक गुलाम की बहुत ऊँची बोली लगा रहा है। मैंने उस आदमी से पूछा कि आख़िर इस गुलाम में ऐसी क्या खूबी है जो तुम इसके इतने अधिक दाम माँग रहे हो? उसने कहा आप ही इससे पूछ लीजिए। संत इब्राहीम ने उस गुलाम से पूछा—तुम्हारा नाम क्या है? उसने कहा—मालिक जिस नाम से पुकारे वही मेरा नाम है। संत ने पूछा—तुम खाते क्या हो? उसने कहा—जो मालिक खिलाए। संत ने पूछा—तुम पहनते क्या हो? उसने कहा—जो मालिक पहनाये। संत ने पूछा—तुम काम क्या करते हो? उसने कहा—जो काम मालिक करवाए। संत ने फिर उससे पूछा—तुम्हारी इच्छा क्या है? उस गुलाम ने विनम्रतापूर्वक कहा—जो मालिक की इच्छा हो वही मेरी इच्छा है। गुलाम को इन चीज़ों से क्या सरोकार। संत इब्राहीम कहते हैं कि उस गुलाम की यह बातें सुनकर मैंने सोचा कि यह अवश्य कोई महान् आत्मा है। अत: मैंने उसे ख़रीद लिया

और कहा कि जा आज से तू आज़ाद है। यह सुनकर उसने मुझे धन्यवाद दिया और एक ओर को चला गया। उसके जाने के बाद मैंने सोचा—काश! मैं भी अल्लाह का ऐसा ही आज्ञाकारी बन्दा (अर्थात् गुलाम) होता तो कितना बेहतर होता।

(2) **साधक को अपने मालिक पर पूर्ण भरोसा हो जाता है कि** वह उसकी हर हालत में रक्षा करेंगे, और इसलिए फिर चाहे कितना ही बड़ा संकट आए....कष्ट आए, वह हैरान-परेशान नहीं होता बल्कि पूरी तरह निश्चिंत बना रहता है। एक समय बलख़ में अकाल पड़ गया। उसी दौरान एक दिन सूफ़ी-संत महात्मा अबू अली शफ़ीक़ बलख़ी बाज़ार में में जा रहे थे, तभी उन्होंने देखा कि एक गुलाम कुछ गुनगुनाता हुआ खुशी-खुशी बाज़ार में जा रहा है। उन्होंने आश्चर्य से कहा कि लोग तो अकाल की वजह से इतने हैरान-परेशान हैं....दु:खी हैं.....बेहाल हैं और तू इस क़दर खुश....इतना बेफिक्र नजर आता है। क्या तुझे कुछ चिन्ता नहीं है? उसने जवाब दिया—मेरे मालिक के यहाँ बहुत ग़ल्ला मौजूद है और वो मुझे भूखा न रक्खेगा। संत शफ़ीक कहते हैं कि उस गुलाम का यह जवाब सुनकर मुझे बड़ी शर्मिन्दगी हुई मैंने सोचा कि वो गुलाम अपने मालिक पर इस कदर भरोसा करता है जब कि उसका मालिक तो दुनिया का का छोटा-मोटा धनी आदमी है, परन्तु मैं अपने-आपको अल्लाह का बन्दा (अर्थात् गुलाम) कहता हूँ फिर भी उस पर इतना भरोसा नहीं करता जबकि वो तो लोक-परलोक दोनों जहानों के ख़ज़ानों का मालिक है। संत शफ़ीक कहा करते थे कि उसी दिन से मैंने ईश्वर पर पूरा भरोसा कर लिया और हर प्रकार के संकट और कष्टों के समय में निश्चिन्त रहने लगा। संत शफ़ीक अकसर फ़रमाया करते थे कि मेरा गुरु तो एक गुलाम है।

(3) **वह अपने मालिक की हर प्रकार की आज्ञा का तुरन्त पालन करता है** (बिना कोई तर्क-वितर्क किए....बिना कोई शिकायत किए....बिना कोई सन्देह किए अर्थात् बिना यह देखे और विचारे कि आज्ञा उचित है या अनुचित)। सूफ़ीमत के अनुसार अध्यात्म में एक अवस्था होती है "वज्द"। वज्द के अर्थ है भावातिरेक....आनन्दातिरेक....प्रेमावेश। जब महात्मा इस अवस्था में होता है तो उसे अपनी कुछ सुध-बुध नहीं रहती, बस एकदम उस ओर खिंचा रहता है। एक दिन सूफ़ी-संत सुलेमान दाराई वज्द की हालत में थे कि उन के शिष्य महात्मा अहम हवारी ने निवेदन किया कि तन्दूर गर्म हो गया है, जैसा हुक्म हो किया जाए। उन्होंने उसी वजदानी हालत में कह दिया कि तुम खुद जाकर तन्दूर में बैठ जाओ। महात्मा अहमद हवारी ने तुरन्त गुरु की आज्ञा का पालन किया और धधकते हुए तन्दूर में जा बैठे। फिर कुछ समय बाद संत सुलेमान की वज्द की हालत ख़त्म हुई और उन्होंने वहाँ उपस्थित शिष्यों की ओर देखा। उन्हें महात्मा अहमद हवारी नज़र नहीं आए। उन्होंने पूछा कि अहमद हवारी कहाँ है। यह सुनकर सब शिष्य ख़ामोश खड़े रहे। संत के फिर पूछने पर एक शिष्य ने धीमी आवाज़ में कहा कि आपने उन्हें आज्ञा दी थी कि तन्दूर में जाकर बैठ जाओ तो वो तन्दूर में जा बैठे हैं। शिष्य अभी सोच ही रहे थे कि अब तक तो वो जल-भुन कर राख हो गए होंगे कि संत सुलेमान

ने कहा कि जाओ उनसे कहो कि हम बुला रहे हैं। एक शिष्य उन्हें बुलाने गया और तन्दूर के पास पहुँच कर आवाज़ दी—अहमद हवारी, तुम्हें गुरु महाराज बुला रहे हैं। वो तन्दूर में से निकले। यह देख कर वो शिष्य आश्चर्यचकित रह गया कि वो बिल्कुल ठीकठाक थे....आग ने उन पर कोई असर नहीं किया था, यहाँ तक कि उनके कपड़े भी नहीं जले थे। जब वह दोनों शिष्य संत सुलेमान के पास पहुँचे तो उन्होंने महात्मा अहमद हवारी को सीने से लगा लिया और कहा कि हमारे बाद यह ही हमारी गद्दी का मालिक होगा—मेरे प्यारे साधक भाई-बहन! महात्मा अहमद हवारी ने अपने गुरु संत सुलेमान की यह अनोखी आज्ञा सुनकर कोई सवाल-जवाब नहीं किया....और न यह सोचा कि धधकते हुए तन्दूर में जाकर बैठने का क्या अन्जाम होगा, बस नि:संकोच तुरन्त गुरु की आज्ञा का पालन किया और तन्दूर में जा बैठे।

(4) आन्तरिक और बाह्य अनन्यता। जिस गुरु से रिश्ता जोड़ा है, साधक का ख़याल उसी के चरणों में लगा रहता है। वो यह समझता है कि उसको जो भी वस्तु मिल रही है वो गुरु द्वारा भेजी हुई ही है, अत: वो उसे गुरु की कृपा का प्रसाद मान कर खुशी-खुशी ग्रहण कर लेता है और किसी भी ज़रूरत के समय वो अपने गुरु के अतिरिक्त किसी दूसरे की ओर आँख उठा कर भी नहीं देखता। एक साधक यात्रा करता-करता सूफ़ी-संत महात्मा शहाबुद्दीन सुहरवर्दी के आश्रम में आकर ठहरा। कुछ समय बाद उसे भूख लगी और वह अपने गुरु के शहर की तरफ मुँह करके खड़ा होकर कहने लगा—ऐ पीरो-मुर्शिद! मुझे भूख लग रही है, खाना देने की महरबानी करो। उसकी यह बात संत शहाबुद्दीन सुहरवर्दी ने, जो अपने कमरे में बैठे थे, आध्यात्मिक शक्ति द्वारा जानली और एक सेवक से कहा कि वह जो यात्री अभी आया है, उसे खाना खिला दो। सेवक खाना लेकर उसके पास गया। उसने खाना खाया और फिर अपने गुरु के शहर की तरफ मुँह करके खड़े होकर कहा—या पीरो-मुर्शिद! खाना खिलाने के लिए तेरा शुक्रिया! यह देखकर उस सेवक को बड़ा आश्चर्य हुआ और संत शहाबुद्दीन सुहरवर्दी के पास जाकर बोला—हुजूर, यह आदमी भी अजीब है। खाना तो आपका खाया परन्तु शुक्रिया अपने गुरु का कर रहा है। संत शहाबुद्दीन सुहरवर्दी यह सुनकर गंभीर होकर बोले—शिष्य कैसा होना चाहिए, कोई इससे सीखे।

मेरे प्यारे साधक भाई-बहन ! जब साधक इस प्रकार स्वाभाविक रूप से, अर्थात् बिना किसी प्रकार का प्रयत्न किए, जीवन जीने लगे तो समझो उसे ''समर्पण-योग'' प्राप्त हो गया है। परन्तु समर्पण कर देना और फिर समर्पण-योग की अवस्था प्राप्त कर लेना कोई खेल नहीं है। यह कोई कहने-सुनने की चीज़ नहीं है....इसमें तो जान की बाजी लगानी पड़ती है। इसलिए अध्यात्म की राह पर चलने वाले अनेकों साधकों में से कोई एक साधक समर्पण की मंज़िल पर पहुँचता है और इस मंज़िल पर पहुँचने वाले अनेकों साधकों में से भी कोई एक साधक समर्पण-योग की अवस्था प्राप्त कर पाता है। यहाँ मूल बात यह है कि समर्थ गुरु उसका समर्पण स्वीकार कर लें। योग-विज्ञान की यह पावन प्रेम लीला है।

✦✦

योग विज्ञान

—श्री पूरन चन्द्र पपनै

गीता के अठारह अध्यायों में भगवान कृष्ण ने योग के **18 स्वरूपों की व्याख्या** की है। इन अठारह अध्यायों वाली 700 मंत्रों की उक्त गीता में, दो मंत्र ऐसे हैं, जिनकी, गीता के शेष 698 मंत्र मानो परिक्रमा कर रहे हैं। उन दो मंत्रों में भगवान कृष्ण ने योग की महिमा का जो गीत गाया है वही **गीता का सार** संदेश प्रतीत होता है। वे दो मंत्र हैं—

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते।
तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा।

—गीता 6/22-23

अर्थात—*जिस लाभ के प्राप्त होने पर, इस दुनिया में, उससे बड़ा और कोई लाभ नहीं माना जाता क्योंकि उसके प्राप्त हो जाने पर, महान् से महान् दुःख भी उस व्यक्ति को विचलित नहीं कर सकते,* ***दुःखों के संयोग के वियोग की*** *उस उच्चतम स्थिति को, योग के नाम से जाना जाता है। सभी लोग उसे अवश्य जानें तथा योग की उस महान् स्थिति को, निश्चय करके, बिना उकताये चित्त से, यथाशीघ्र अवश्य प्राप्त करें।*

भगवान कृष्ण इस मंत्र के माध्यम से बता रहे हैं कि इस दुनिया में, हर व्यक्ति अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार अपने लिए एक से बढ़कर एक सुख देने वाले और प्रतिष्ठा देने वाले लाभ को पाने का प्रयत्न करता है लेकिन योग एक ऐसा लाभ है जिससे बढ़कर और कोई लाभ हो ही नहीं सकता। क्यों नहीं हो सकता, इसी मंत्र में, भगवान इसका उत्तर देते हैं, क्योंकि योग में स्थिति होने पर, महान से महान् दुःख भी, उस व्यक्ति को, विचलित नहीं कर सकता।

इस दुनिया में भौतिकविज्ञान की किसी भी शाखा द्वारा, आज तक कोई ऐसी खोज नहीं की जा सकी है, कोई ऐसी और उपलब्धि या लाभ की ईजाद नहीं की जा सकी है, जिसके मिल जाने पर, उससे बड़ा और कोई लाभ है ही नहीं, ऐसा कहा जा सके और जिसे पा लेने पर व्यक्ति को महान् से महान् दुःख विचलित न कर सके। ऐसा लाभ दिलाने वाला यदि कोई विज्ञान इस धरती पर है तो वह केवल और केवल योगविज्ञान है।

भगवान कृष्ण ने गीता में योगविज्ञान को राजविद्या के नाम से परिभाषित किया है और उस राजविद्या की महिमा गाते हुए वह बताते हैं—

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्॥

—गीता 9/2

इस मंत्र के माध्यम से योगविज्ञान अथवा योगविद्या की उन्होंने निम्न आठ बड़ी ही महत्वपूर्ण विशेषतायें बतायी हैं—

1. **राजविद्या**—भगवान कृष्ण कहते हैं जो योगविज्ञान है, वह राजविद्या है। राजविद्या का अर्थ है वह विद्या जो सब विद्याओं की राजा है, सबमें श्रेष्ठ और शिरमौर है, क्योंकि यह विद्या राजाओं का भी राजा बना देती है, सामान्य गृहस्थों को भी आत्मा के राजसिंहासन पर

बिठाल देती है। इससे बढ़कर कोई और लाभ नहीं होता क्योंकि इसे पा जाने के बाद, महान् से महान् दु:ख आने पर भी व्यक्ति विचलित नहीं होता।

2. **राजगुह्यम**—योगविज्ञान को राजगुह्य कहा है। यह योगविज्ञान, ईश्वर के, सृष्टि के तथा व्यक्ति के भीतर विद्यमान गूढ़ से गूढ़ गोपनीय रहस्यों को भी उजागर करने वाला है और अकल्पनीय सिद्धियाँ प्रदान करने वाला है। योग से प्राप्त होने वाली आश्चर्यमय सिद्धियों का वर्णन पतंजलि ऋषि के योगदर्शन के विभूति पाद में दिया गया है।

3. **पवित्रम्**—यह योगविज्ञान महान् पवित्र है, क्योंकि यह, योगविद्या के विद्यार्थी की सारी अपवित्रता, अज्ञानता, मोह, अविद्या, राग-द्वेष, भय, चिंता, विकार आदि अभिनिवेशों को समाप्त कर उसे परम पावन सत्+चित+आनन्दमय आत्मा से एकाकार करा देता है।

4. **उत्तमम्**—यह राजविद्या नीचे से नीचे, पतन के गड्ढे में गिरे हुए व्यक्ति को भी, यदि वह इसे अंगीकार कर ले, तो आत्मा के सच्चिदानंमय उच्चतम शिखर पर पहुंचा देती है। इसलिए सब विज्ञानों में यह योगविज्ञान उत्तम विज्ञान है।

5. **प्रत्यक्षावगमम्**—योगविज्ञान की ऐसी विलक्षणता है कि यह आत्मा व परमात्मा का प्रत्यक्ष अनुभव करा देती है। इसके अतिरिक्त और कोई ऐसा विज्ञान नहीं है जो आत्मा का, परमात्मा का प्रत्यक्ष अनुभव करा सके और दर्शन करा सके।

6. **धर्म्यम्**—योगविज्ञान, समस्त धर्मों को धारण करने वाला है। इससे बड़ा कोई और धर्म नहीं है। सभी धर्म योगविज्ञान में समाये हुए होते हैं क्योंकि भगवान कहते हैं सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज (सब धर्मों को त्याग कर तू मेरी शरण में आ जा)। सब धर्म-कर्मों के फल को, समर्पित करके, जो ईश्वर की अथवा ईश्वरस्वरूप अपने सत्‌गुरु की शरण में चला जाता है, उसे ही यह सर्वोत्तम धर्म या राजविद्या नसीब हो पाती है, अन्यों को नहीं।

7. **सुसुखं कर्तुम्**—इस राजविद्या को पाने के लिए कोई विशेष प्रकार का कठिन तप करने की या असहनीय उग्र कष्ट उठाने की आवश्यकता नहीं पड़ती। सामान्य घर गृहस्थी में रहते हुए, संसार के सारे व्यवहार करते हुए, योग के 10 आचरणों, जिन्हें यम-नियम (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय व ईश्वर प्रणिधान) कहा गया है, का दिव्य आनंद लेते हुए तथा इनका सुखपूर्वक पालन करते हुए, इस योगविज्ञान का लाभ उठाया जा सकता है।

8. **अव्ययम्**—यह योगविज्ञान आत्मा में स्थित करा देती है जो अव्यय और अविनाशी है। इस अविनाशी योगविज्ञान से ही सारी सृष्टि का, सृष्टि के प्रत्येक, प्राणी, पदार्थ व पिण्ड का अनादि काल से बड़े ही व्यवस्थित विधि से संचालन होता चला आ रहा है।

योगविज्ञान का लक्ष्य है आत्मा का बोध कराना। प्रत्येक प्राणी के शरीर में आत्मा की वह चैतन्य शक्ति विराजित होती है, जिससे प्रत्येक शरीर का भीतर व बाहर बड़े ही व्यवस्थित विधि से संचालन होता है और आत्मा की ही शक्ति से शरीर द्वारा नाना प्रकार के छोटे से छोटे तथा बड़े से बड़े कार्य संपन्न किए जाते हैं।

भगवान कृष्ण, गीता में सभी शरीरधारी लोगों के, सच्चे स्वरूप का बोध कराते हैं। उनके मतानुसार कोई भी व्यक्ति भौतिक शरीर नहीं है, बल्कि वह भौतिक शरीर के भीतर विराजित ईश्वर का अविनाशी अंश-'आत्मा' है। शरीर नाशवान है लेकिन शरीर में रहने वाली आत्मा, अविनाशी है। इसलिए न कोई किसी को मार सकता है और न कोई मरता है। गीता के दूसरे अध्याय में भगवान ने आत्मा की निम्न बारह विशेषतायें बताई हैं।

(क) अछेद्य (इतनी सूक्ष्मातिसूक्ष्म कि जिसके टुकड़े नहीं किए जा सकते),

(ख) अदाह्य (इतनी सूक्ष्मातिसूक्ष्म कि जिसको जलाया नहीं जा सकता),

(ग) अक्लेद्य (इतनी सूक्ष्मातिसूक्ष्म कि जिसे गीला नहीं किया जा सकता),

(घ) अशोष्य (इतनी सूक्ष्मातिसूक्ष्म कि जिसे सुखाया नहीं जा सकता),

(च) नित्य (जो हर समय व हमेशा है),

(छ) सर्वगत (इतनी सूक्ष्मातिसूक्ष्म और विशाल से विशालतम कि जिसकी सब जगह पहुंच है)

(ज) स्थाणु (जो हमेशा स्थिर है),

(झ) अचल (जो चलायमान नहीं है, हिलती-डुलती नहीं है),

(ट) सनातन (जो अनादि व अनंत है, जिसकी कभी मृत्यु नहीं होती),

(ठ) अव्यक्त (जिसे चर्मचक्षुओं से देखा नहीं जा सकता तथा वाणी से भलीभांति व्यक्त नहीं किया जा सकता),

(ड) अचिन्त्य (जो पूर्णरूप से बुद्धि की पकड़ में नहीं आ सकती) तथा

(ढ) अविकारी (जिसमें किसी भी प्र की अपवित्रता, विकृति व मलिनता नहीं है)

उक्त बारह विशेषणों वाली आत्मा का ब कराने वाले योगविज्ञान के ज्ञान को पाने के ि उपाय क्या हैं ? उसके बारे में भगवान कृ बताते हैं–

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवय
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्व दर्शिन

–गीता 4/

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रिय
ज्ञानं लब्ध्वा परां शांतिमचिरेणाधिगच्छति

–गीता 4/

भगवान कृष्ण उक्त मंत्रों के माध्यम समझाते हैं कि योगविज्ञान को आत्मसात क के लिए किसी तत्वज्ञानी सत्गुरु की शरण जाकर उनके श्रीचरणों में विनम्रभाव से प्रण करना, उनके द्वारा बतायी गयी विधि से ध्य साधना करके उनकी सेवा (आज्ञा का पाल करना तथा आवश्यकता पड़ने पर उनसे वि भाव से प्रश्न पूछना, यह तीन बातें आवश्यक वही व्यक्ति योगविज्ञान से आत्मज्ञानी हो सक है और पराशान्ति की स्थिति में पहुंच सकता जो योग और योगविज्ञान के प्रति श्रद्धावान, तत्पर (योगविज्ञान से योगी बनने के ि कटिबद्ध हो) तथा संयमी (मन व इन्द्रियों नियंत्रण में रख सकता) हो। तत्वज्ञानी महापु ऐसे ही जिज्ञासुओं को अपने उदार भाव योगविज्ञान के ज्ञानामृत से निहाल करते हैं।

मानव समाज के लिए रामाश्रम सत्संग स्नेहभरा आह्वान है कि योगविज्ञान सरलतम, व्यावहारिक व दुर्लभ साधना समय रहते लाभ उठाये। ✦

वर्ष : 8३ [अगस्त-2015] अंक : 1

राजस्थान तथा बिहार सरकार द्वारा स्वीकृत

※ साधन के नियम ※

1. गूढ़ तथा अनुभवी गुप्त रहस्यों को सरल भाषा द्वारा जनता तक पहुँचाना तथा सदाचार की शिक्षा देना ''साधन'' का मुख्य उद्देश्य है।
2. साधन प्रत्येक मास की 20-21 तारीख को प्रकाशित होता है। जिन ग्राहकों को पत्रिका अगले माह की 20 तारीख तक न मिले, उन्हें डाकखाने तथा कार्यालय से सम्पर्क करना उचित है। अंक न मिलने पर एक माह के अन्दर सूचित करने पर अंक दोबारा भेज दिया जायेगा।
3. साधन में आध्यात्मिक, सामाजिक तथा शारीरिक उन्नति के लेख ही छापे जायेंगे। राजनैतिक तथा अश्लील लेख भेजने का कोई भी सज्जन कष्ट न करें।
4. लेखों को घटाने-बढ़ाने और छापने, न छापने का अधिकार सम्पादक का रहेगा, परन्तु लेख प्रकाशित नहीं होने पर सम्पादक उत्तरदायी नहीं होगा। लेख सरल भाषा में कागज के एक ओर ही स्वच्छ लिखे हों।
5. ग्राहकों को पता व ग्राहक नम्बर साफ़-साफ़ लिखना चाहिए। उत्तर के लिए जबाबी कार्ड भेजना आवश्यक है।
6. साधन का वार्षिक शुल्क रुपये 150/- है। एक प्रति का शुल्क रुपये 16/- है। केवल विशेषांक का शुल्क रुपये 20/- है। भारतवर्ष से बाहर दूसरे देशों में रहने वालों के लिए साधन का वार्षिक शुल्क रुपये 1400/- है। एक वर्ष से कम के ग्राहक नहीं बनाये जायेंगे।
7. दस वर्षीय अवधि की सदस्यता शुल्क रुपये 1350/- है और बीस वर्षीय अवधि की सदस्यता शुल्क रुपये 2500/- है।
8. साधन का वार्षिक शुल्क साधारण मनीआर्डर, ई. एम. ओ., डिमाण्ड ड्राफ्ट अथवा चैक (जो मथुरा में देय हो) द्वारा भेज सकते हैं, जो ''साधन हिन्दी मन्थली'' के नाम 813, डैम्पियर नगर, मथुरा-281001 को भेजा जाये।
9. सत्संग साहित्य जो आप मंगाना चाहते हैं उसका कुल मूल्य एवं डाकखर्च कार्यालय से पता कर मनीआर्डर, ई.एम.ओ., डिमाण्ड ड्राफ्ट अथवा चैक द्वारा भेजकर मंगाया जा सकता है।

Licence To Post without Prepayment Licence No. - AGRA/WPP-01/2015-2017
"Registered" Postal Regd. No. MTR / 28 /15-17 R. N.I. No. - 2358 / 57
Date of Publication : 8th to 15th of Every Month

साधन

ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ

मथुरा

प्रबन्ध सम्पादक : आलोक कुमार, साधन हिन्दी मन्थली, मथुरा
प्रकाशक : आलोक कुमार, साधन हिन्दी मन्थली, डैम्पियर नगर, मथुरा
मुद्रक : आलोक कुमार, साधन प्रेस, डैम्पियर नगर, मथुरा

E-mail: sadhanhindimonthly@gmail.com, sadhanhindimonthly@yahoo.co.in
Website: www.sadhan.in, www.facebook.com/sadhan.ramashram
Ph.: 0565-3290790, Mob.: 09319680800